MAPH-111(N)

समकालीन पाश्चात्य दर्शन भाग–1

उ० प्र० राजर्षि टण्डन
मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

खण्ड–1 जी0 ई0 मूर

इकाई–1 प्रत्ययवाद का खण्डन **3**

इकाई–2 मूर का सामान्यज्ञान समर्थन **10**

खण्ड–2 बर्ट्रेंड रसेल

इकाई–3 साक्षात परिचय ज्ञान एवं वर्णानात्मक ज्ञान **19**

इकाई–4 वर्णन सिद्धान्त **27**

इकाई–5 तार्किक परमाणुवाद **36**

खण्ड–3 तार्किक भाववाद

इकाई–6 वियना सर्किल में विकसित तार्किक भाववाद **51**

इकाई–7 सत्यापन सिद्धान्त **60**

इकाई–8 तत्वमीमांसा का निरसन **70**

इकाई–9 दर्शन का कार्य **78**

खण्ड–4 लुडविग विगेन्सटीन

इकाई–10 जगत तथ्य तथा विषय **95**

इकाई–11 प्रतिज्ञप्तियों का चित्रण सिद्धान्त **105**

इकाई–12 अर्थ का प्रयोग सिद्धान्त **113**

इकाई–13 भाषाई खेल **120**

MAPH-111 (N)

समकालीन पाश्चात्य दर्शन भाग–1

संरक्षक एवं मार्गदर्शक

प्रोफेसर सत्यकाम — कुलपति–अध्यक्ष

विशेषज्ञ समिति

प्रो. सत्यपाल तिवारी — उ.प्र. राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रो. जटाशंकर (सेवानिवृत्त) — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

प्रो.ऋषिकान्त पाण्डेय — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

प्रो. हरिशंकर उपाध्याय — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

प्रो. दीपनारायण यादव — दर्शनशास्त्र विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

डॉ. अतुल कुमार मिश्र — असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

सम्पादक

प्रो.ऋषिकान्त पाण्डेय — दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद

परिमापक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र — असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

लेखक

डॉ. प्रबुद्ध मिश्रा — एसो. प्रोफेसर, नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय, प्रयागराज

डॉ. अतुल कुमार मिश्र — असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र — असि. प्रोफेसर, मानविकी विद्याशाखा, उ.प्र.रा.ट.मु.वि.वि.,प्रयागराज

मुद्रित– **अप्रैल, 2025**

@उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज – 2025.

ISBN- 978-93-48987-58-7

सर्वाधिक सुरक्षित। इस पाठ्य सामग्री का कोई भी अंश उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना, मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की ओर से श्री विनय कुमार, कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, 2025.

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स, पंचवटी, मथुरा – 281003.

खण्ड–01–जी0 ई0 मूर

इकाई–1 :प्रत्ययवाद का खण्डन

इकाई की रूपरेखा –

1.0 उद्देश्य

1.1. प्रस्तावना

1.2. जी0ई0 मूर : संक्षिप्त परिचय

1.3. प्रत्ययवाद का खण्डन

1.4. दृश्यते इति वर्तते

1.5. सारांश

1.6. समीक्षा

1.7 निष्कर्ष

1.8 शब्दावली

1.9 प्रश्नावली

1.10 उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य पाठक को आंग्ल दार्शनिक जी0ई0मूर का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसके द्वारा किया गया अपने समय के प्रतिष्ठित दार्शनिक सिद्धांत 'प्रत्ययवाद' के खण्डन पर प्रकाश डालना है और यह स्पष्ट करना है कि उसके अनुसार किसी वस्तु का होना उसके देखे जाने पर निर्भर नहीं करता। बर्कले का दृश्यते इति वर्तते सूत्र (Esse Est Percipi) जो सभी प्रकार के प्रत्ययवाद को सिद्ध करने में असफल रहा है।

1.1. प्रस्तावना

जी0ई0 मूर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का एक अति महत्वपूर्ण दार्शनिक है, जो विशेषकर अपने समय के अत्यंत प्रभावशाली दार्शनिक मत, प्रत्ययवाद के खण्डन के लिए तथा दर्शन में सामान्य बुद्धि के महत्व की स्थापना ओर बचाव के लिए जाना जाता है। जी0ई0 मूर और रसेल समकालीन ही नहीं थे बल्कि दोनो कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के साथ–साथ रहे भी। दोनों दार्शनिकों

ने अपनी–अपनी तरह से प्रत्ययवाद से न केवल अपनी घोर असहमति जताई, बल्कि दोनों ने वास्तववादी दृष्टिकोण अपनाया तथा वे हर प्रकार के प्रत्ययवाद से विरुद्ध रहे।

प्रत्ययवाद के खंडन पर प्रकाश डाला गया है। मूर की प्रत्ययवाद से मूल शिकायत यह थी यह सिद्धांत उन्हें हमारी सामान्य बुद्धि का मजाक उड़ाता सा दिखाई देता था। हम जो वस्तुएं देखते हैं वे स्पष्टतः हमसे अलग हैं और भौतिक हैं किन्तु प्रत्ययवाद कहलाता है। वे हमारे मन का विकार है, आत्मा के स्वरूप की हैं इतना ही नहीं प्रत्ययवाद हमारे दृश्य जगत को केवल आभास मात्र मानता है। यह स्थित सामान्य बुद्धि के लिए अत्यंत असहज है।

प्रत्ययवाद की इन स्थितियों को देखते हुए मूर प्रत्ययवाद के खण्डन में जुट गए। उन्होंने इसका खण्डन ठीक उस सूत्र पर आक्रमण करके किया जो हर प्रत्ययवाद के मूल में निहित रहता है। यह सूत्र है बर्कले का प्रसिद्ध सूत्र "Esse Est Percipi"। मूर ने अपने तर्क द्वारा यह सिद्ध करने की कोशिश की कि यह सूत्र प्रत्ययवाद को स्थापित करने में सर्वथा असफल रहा है।

1.2. जी0ई0 मूर : संक्षिप्त परिचय

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय (ब्रिटेन) दार्शनिक चिंतन का केन्द्र रहा। ब्रिटिश दर्शन के कुछ प्रबल स्तंभ वहीं स्थापित हुए। जी0ई0 मूर उनमें से एक थे। मूर के साथ–साथ रसेल का नाभ भी जुड़ा हुआ है। रसेल, मूर और विटगेन्स्टाइन ये तीनों ही लगभग एक ही समय कैम्ब्रिज में थे और तीनों ही समकालीन दर्शन के परिदृश्य को बदलने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absulute Idealism) की अवनति में मूर का दर्शन सबसे महत्वपूर्ण घटक है।

जी0ई0 मूर (1873–1959) का जन्म लंदन के एक उपनगर में एक संपन्न परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा डलविच कालेज तथा ट्रिनिटी कालेज, कैम्ब्रिज (ब्रिटेन) में हुई। वहां रसेल से उनकी मित्रता हुई और वे दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने लगे। बाद में उन्हें कैम्ब्रिज में ही अध्यापन करने का अवसर मिला और सेवा निवृत्ति तक इसी विश्वविद्यालय में कार्य करते रहे। यहां उन्हें बड़ी ख्याति मिली और लोग उनका बड़ा आदर करते थे।

जी0ई0मूर की रचनाएं –

1. Philosophical Studies, 1992 (इस ग्रंथ में इनका प्रसिद्ध लेख "A Refutation of Idealism" सम्मिलित है।)
2. The philosophy of G.E. Moore (Ed. P.A. Schilpp) (इसमें मूर का "The reply to my Critics" और अन्य निबंध शामिल हैं)
3. Philosophical Papers, 1969
4. The Commonplace Book, 1982

मूर स्वयं को ब्रेडले या मैक्टागर्ट की प्रतिभा का दार्शनिक कभी नहीं मानते थे। वे अपने को सामान्य बुद्धि का एक साधारण मनुष्य कहते हैं जिसे आम आदमी के विश्वासों की धारणाओं में कोई खोट नहीं दिखाई देती थी। इसीलिए उन्होंने सामान्य बुद्धि का समर्थन किया और स्पष्ट किया कि सामान्य बुद्धि सदैव दार्शनिक सोच के विरुद्ध नहीं होती बल्कि जो सोच सामान्य बुद्धि के विरुद्ध होती है उससे सतर्क रहना चाहिए।

1.3. प्रत्ययवाद का खण्डन

अपने समय के सभी अन्य दार्शनिकों की तरह मूर भी आरंभ में प्रत्ययवाद के प्रभाव से मुक्त नहीं थे। लेकिन यह प्रभाव उन पर बहुत कम समय के लिए ही रहा। प्रत्ययवाद के लिए उनका मोह भंग शीघ्र ही हो गया। सामान्य बुद्धि के समर्थक मूर ने जैसे ही यह महसूस किया कि प्रत्ययवाद सामान्य बुद्धि के विश्वासों और प्राक्कथनों के विरुद्ध है। वह इसके (प्रत्ययवाद के) खंडन में जुट गए। इसके अतिरिक्त प्रत्ययवाद के खण्डन के पीछे शायद एक और भी कारण रहा हो। प्रत्ययवाद एक भव्य दार्शनिक इमारत खड़ा करता है कि अब इस तंत्र से सारी दार्शनिक समस्याएं हल हो जाएंगी। किसी भी दार्शनिक तंत्र का यह दावा आज तक सफल नहीं हुआ। मूर के अनुसार ऐसा कोई दार्शनिक तंत्र हो ही नहीं सकता जो सभी समस्याओं का हल बता सके। दार्शनिकों में एक भव्य दार्शनिक तंत्र के निर्माण करने की प्रवृत्ति को मूर ने हमेशा गलत माना। उनके अनुसार जैसे–जैसे जो समस्याएं आती हैं हमें उनका हल ढूंढ़ना चाहिए न कि सब समस्याओं को हल करने वाला कोई तंत्र का निर्माण करना चाहिए।

1.4. दृश्यते इति वर्तते

सामान्य मनुश्य की बुद्धि एवं विज्ञान दोनों का अतिक्रमण करने वाली प्रत्ययवादियों की तर्क प्रणाली का व्यवस्थित विरोध एडवर्ड मूर ने किया है। उन्होंने प्रत्ययवाद का खण्डन कर दर्शन जगत में वस्तुवाद की व्यवस्थित स्थापना की। इस संदर्भ में उनका प्रसिद्ध लेख प्रत्ययवाद का खण्डन 'माइण्ड' पत्रिका में प्रकाशित हुआ जिसका संकलन उनकी पुस्तक Philosophical Studiesमें हुआ।

मूर का मूल उद्देश्य सर्वसाधारण बुद्धि पर आधारित दर्शन की स्थापना करना था जिसके लिए प्रत्ययवादी चिंतन को दार्शनिक प्रणाली से अलग करना आवश्यक हो गया था। समस्त प्रत्ययवादियों का खण्डन करने के बजाए मूर बर्कले के प्रत्ययवाद 'सत्ता दृश्यता है' का विश्लेषण करते हैं और यह दर्शाने का प्रयास करते हैं कि इस कथन का जो भी अर्थ लिया जाए उसके माध्यम से प्रत्ययवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता।

मूर के अनुसार इस कथन में 'है' शब्द के विश्लेषण द्वारा पूरे कथन का अर्थ निर्धारित होता है जिसकी व्याख्या तीन प्रकार से की जा सकती है।

प्रथम– सत्ता एवं दृष्यता दोनों समानार्थक हैं अर्थात शब्द दो पर्यायवाचियों को संयुक्त करता है।

द्वितीय – सत्ता के अर्थ में दृश्यता निहित है किन्तु सत्ता दृश्यता के बाहर भी है।

तृतीय– सत्ता व दृश्यता का भिन्न–भिन्न अर्थ है। तथापि दोनों के बीच एक प्रकार का अनिवार्य संबंध है यहां 'है' शब्द सत्ता व दृश्यता के बीच अनिवार्य संबंध को दर्शाता है।

मूर के अनुसार यदि प्रथम अर्थ को स्वीकार किया जाए तो सत्ता एवं दृश्यता इन दोनों के अर्थ एक ही होते हैं अर्थात पूर्ण तादात्म्य में जो सत्ता है वह दृश्यता है एवं जो दृश्यता है वह सत्ता है। अतः सत्ता दृश्यता है को हम कह सकते हैं कि सत्ता, सत्ता है यह कथन पुनरुक्ति मात्र होगा जिसकी कोई भी व्याख्या नहीं की जा सकती।

द्वितीय विकल्प के अनुसार सत्ता व दृश्यता एक दूसरे के समानार्थक नहीं हैं अर्थात आंशिक तादात्म्य है। सत्ता हमारे अनुभव से बाहर भी है यदि सत्ता दृश्यता से अधिक है तो ऐसा मान लेने पर बर्कले का सिद्धांत स्वतः खंडित हो जाएगा। यह प्रत्ययवाद को न सिद्ध करके वस्तुवाद को सिद्ध करता है।

तृतीय अर्थ में सत्ता दृश्यता से पृथक है अर्थात दोनों में तादात्म्य नहीं है तो फिर इस कथन में सत्ता, दृश्यता अलग –अलग अर्थों में प्रयुक्त होंगे जिससे यह एक संश्लेषणात्मक कथनों में अनिवार्यता नहीं होती। अनिवार्यता विश्लेषणात्मक कथनों की विशेषता है बर्कले एक ही कथन को संश्लेषणात्मक एवं अनिवार्य मान लेते हैं जिससे तार्किक विरोध उत्पन्न होता है।

उपयुक्त तीनों अर्थों के विवेचन के बाद मूर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'सत्ता दृश्यता है' से प्रत्ययवाद सिद्ध नहीं होता बल्कि इसका आधार समाप्त हो जाता है इसलिए मूर प्रत्ययवाद के खण्डन में ज्ञान व ज्ञान के विषय के संबंधों की समीक्षा करते हैं।

1.5. सारांश

प्रत्ययवादियों के अनुसार ज्ञान व ज्ञान के विषय को पृथक नहीं किया जा सकता दोना संबद्ध हैं। नीला रंग व नीले रंग का संवेदन एक ही है। तथापि मूर कहते हैं कि हरे व नीले रंग के अनुभव में अंतर क्यों होता है? मूर के अनुसार संवेदन व संवेदन के विषय एक दूसरे से भिन्न हैं क्योंकि यदि हम दोनों को अवियोज्य कहते हैं तो नीले रंग व हरे रंग के बीच भेद करना असंभव हो जाएगा। मूलतः संवेदन के स्तर पर दोनों समान हैं उनके मध्य केवल विषय के स्तर पर ही भेद किया जाता है।

इस आधार पर मूर चेतना एवं विषय को ज्ञान के दो शर्तों के रूप में स्वीकार करते हैं ज्ञान के स्थिति में चेतना एवं विषय दोनों होते हैं इसे प्रत्ययवादी भी स्वीकार करते हैं किन्तु उनकी कमी यह है कि वे चेतना एवं विषय को एक ही मान लेते हैं ज्ञान की स्थिति एक सम्पूर्णता है और विषय उसका अवयव है।

यहां प्रत्ययवादी कहेंगे कि ज्ञान का विषय और चेतना सम्पूर्णता के एक अवयव हैं इसका अर्थ होगा कि ज्ञान का विषय व चेतना एक ही है। चेतना भी सम्पूर्ण स्थिति का एक अंग है और

साथ ही विषय भी सम्पूर्ण स्थिति का अंग है अतः दोनों एक है किन्तु मूर कहते हैं कि कोई भी अवयव सम्पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता सम्पूर्णता का एक अंग दूसरे अंग के समान कैसे हो सकता है। यह तार्किक रूप से गलत है।

उल्लेखनीय है कि हेगल ने स्वीकार किया है कि चेतना एवं विषय एक दूसरे से भिन्न है लेकिन हेगल यह भी मानते है ंकि दोनों में एक प्रकार की आंगिक एकता है किन्तु मूर की आपत्ति है कि एक दृष्टिकोण से दोनों को भिन्न कहना फिर दूसरे दृष्टिकोण से दोनों में आंगिक एकता को स्वीकार करना परस्पर विरोधी बाते हैं।

पुनः प्रत्ययवादी चेतना के विषय को चेतना की अन्तर्वस्तु कह सकते हैं किन्तु मूर के अनुसार एक वस्तु दूसरे वस्तु की अन्तर्वस्तु है या अन्तर्निहित है तो इसका तात्पर्य क्या होगा जैसे पीले पुष्प में पीला रंग अन्तर्निहित है और कई गुण जैसे सुंदरता, गंध आदि गुण भी अन्तर्निहित है इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है।

यहां मूर प्रश्न करते हैं कि चेतना व उसके विषय के मध्य क्या वही संबंध है जो पीले रंग व पीले पुष् में है? क्या हम कह सकते हैं कि पीला रंग वस्तु में निहित न होकर हमारी चेतना में ही है। अर्थात क्या पीले रंग की चेतना के कारण ही क्या पुष्प का रंग पीला हो जाता है। ऐसा नहीं है इसलिए चेतना के विषय चेतना की अन्तर्वस्तु नहीं है।

मूर का यह मत ब्रेटानों एवं माइनांग के विचारों से प्रभावित प्रतीत होता है। मूर के पूर्व प्रोटोनों ने भी ज्ञान का द्विकारक सिद्धांत स्थापित किया था जिसके अनुसार ज्ञान का कोई न कोई विषय अवश्य होता है। माइनांग भी मानते हैं कि नाम के अनुरूप या वर्णन के आधार पर कोई न कोई सत्ता अवश्य होती है मूर का पक्ष भारतीय दर्शन के सर्वास्तिवादी बौद्धों के अनुरूप है जिसमें वस्तुओं की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया गया है।

1.6. समीक्षा

मूर द्वारा प्रत्ययवाद के खण्डन में जो तर्क दिए गए वे अनेक कमियों से ग्रस्त है जिनका उल्लेख समकालीन दर्शन में होता है–

(1) मूर ने केवल बर्कले के दर्शन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। 'सत्ता दृश्यता है' सभी प्रत्ययवादियों का दर्शन नहीं है। जैसे प्लेटो मानते हैं कि प्रत्यय किसी के ज्ञान पर निर्भर नहीं है न मनुष्य के ज्ञान पर न ही ईश्वर के ज्ञान पर।

(2) स्पष्टतः कम से कम मूर के तर्कों से प्रत्ययवाद का खण्डन नहीं हो पाता यद्यपि अन्य प्रत्ययवादी वस्तु का निरपेक्ष सत्ता का अंश मानते हैं किन्तु यह नहीं मानते कि वस्तुओं की सत्ता निरपेक्ष तत्व पर निर्भर है। इसके अतिरिक्त हेगल, ब्रेडले आदि प्रत्ययवादी बर्कले की तरह जड़ तत्व का खंडन नहीं करते हैं।

(3) पुनः मूर अपने तर्कों से बर्कले के प्रत्ययवाद का भी खण्डन नहीं कर पाते। बर्कले के चिंतन में प्रत्यययों का अस्तित्व केवल मनुष्य पर निर्भर नहीं है। अन्ततः प्रत्ययों का कारण ईश्वर है ऐसी स्थिति में यदि कोई मनुष्य अनुभव नहीं करता है तो भी वस्तुओं की सत्ता रह सकती है किन्तु मूर अपने तर्कों में ईश्वर का उल्लेख नहीं करते।

(4) प्रो. स्टेस अपने लेख वस्तुवाद के खंडन में मूर के तर्कों का मूल्यांकन करते हैं। उनके अनुसार जैसे प्रत्ययवाद को सिद्ध नहीं किया जा सकता वैसे ही वस्तुवाद को सिद्ध करना असंभव है। वस्तुवाद के अनुसार ज्ञेय वस्तु की सत्ता तब भी असंभव है जब वह सीमित मन के अनुभव से स्वतंत्र हो। अब हम मान लें कि किसी वस्तु की सत्ता है जिसका ज्ञान किसी भी ज्ञाता को नहीं है तो क्या हम इस स्थिति में रह सकते हैं कि वस्तु की सत्ता है यदि है तो इसका क्या प्रमाण अर्थात इसका कोई प्रमाण नहीं है।

1.7 निष्कर्ष

इस संदर्भ में माइण्ड पत्रिका में प्रकाशित अपने लेख में मूर स्वीकार करते हैं कि उनके द्वारा किया गया खंडन अनेक कमियों से ग्रस्त है फिर भी मूर के कमियों का समुचित उत्तर अभी तक नहीं मिल सका है। उनके प्रभावशाली तर्कों के आधार पर ही नव्य यथार्थवाद संभव हो पाता है।

1.8 शब्दावली

Absulute Idealism–निरपेक्ष प्रत्ययवाद

Philosophical Analysis – दार्शनिक विश्लेषण

To Perceive –देखना

Direct – प्रत्यक्षतः

Material Objects – भौतिक वस्तुएँ

Realism –वास्तववाद

Sensation –संवेदना

1.9 प्रश्नावली

1. मूर प्रत्ययवाद का खण्डन किस प्रकार करते हैं?

2. दृश्यते इति वर्तते की व्याख्या कीजिए।

1.10 उपयोगी पुस्तकें

1. Schilpp PA- The Philosophy of G. E. Moore
2. Standard Encyclopedia of Philsosophy (Sense Data)
3. G. E. Moore , Some Main Problems of Philosophy, Ch.2
4. डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, पाश्चात्य दर्शन की समकालीन प्रवृत्तियाँ, भोपाल।

....

खण्ड– 01–जी0 ई0 मूर

इकाई–2 :मूर के सामान्य ज्ञान समर्थन एवं इन्द्रिय प्रदत्त

इकाई की रूपरेखा –

2.0 उद्देश्य

2.1. प्रस्तावना

2.2. मूर का सामान्य बुद्धि वास्तववाद

2.3. सामान्य बुद्धि और इन्द्रियानुभव

2.4. इन्द्रियानुभव और इन्द्रिय–प्रदत्त

2.5 जी. ई. मूर. का दार्शनिक योगदान

2.6. सारांश

2.7. शब्दावली

2.8. प्रश्नावली

2.9. पठनीय पुस्तकें

....

2.0 उद्देश्य–

इस इकाई का प्रयोजन पाठकों को मूर के वास्तववाद में इन्द्रिय–प्रदत्त की भूमिका पर प्रकाश डालना है। इसके लिए पहले यह जरूरी है कि हम मूर के वास्तववाद को, सहज बुद्धि पर आधारित है विस्तार में समझे तथा इसका इन्द्रियानुभव से क्या संबंध है उसे जानें। मूर के अनुसार इन्द्रियानुभव में भौतिक वस्तु प्रत्यक्षतः हमें 'दिखाई' नही देती। हम उसका केवल इन्द्रिय–प्रदत्तों, जो इन्द्रियानुभव को प्रत्यक्षतः प्रदत्त हैं, से अनुमान लगा सकते हैं। इस इकाई में हमारा प्रयोजन विशेषकर इन्हीं 'इन्द्रिय–प्रदत्तों' के स्वभाव को तथा इन्द्रियानुभव से उनके संबंध को स्पष्ट करना है।

इसके अतिरिक्त इस इकाई में कुल मिलाकर दर्शनशास्त्र, जैसा कि आज हम उसे पाते हैं, में जी. ई. मूर का क्या योगदान रहा है, उसकी भी चर्चा की गई है।

2.1. प्रस्तावना–

मूर एक वास्तविक दार्शनिक हैं और उनका वास्तववाद मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि सामान्य बुद्धि के साक्ष्य पर आधारित हैं। हमारी सामान्य बुद्धि के विश्वासों के समर्थन में मूर इन्द्रियानुभव के तर्क को प्रस्तुत करते हैं। वास्तवाद भौतिक वस्तुओं क अस्तित्व को स्वीकार करता है। वे प्रश्न करते हैं कि हम अपने इन्द्रियानुभव में क्या प्रत्यक्षतः भौतिक वस्जतुओं को 'देया पाते' है? हमारी तो सामान्य बुद्धि नहीं कहती है। लेकिन मामला इतना सरल नहीं है। सच तो यह है कि हमारे प्रत्यक्षीकरण में प्रत्यक्षतः भौतिक वस्तु आती ही नहीं। प्रत्यक्षीकरण में तो केवल भौतिक वस्तुओं के रंग–रूप, आकार–प्रकार आदि वस्तुओं के गुणा ही हमें प्रत्यक्षतः 'देखने' का मिलते हैं। इन्हीं रंग–रूप, आकार–प्रकार आदि को प्रत्यक्षतः हमारे प्रत्यक्षीकरण में हमें प्राप्त होते हैं, मूर ने 'इन्द्रिय प्रदत्त' का नाम दिया है। ये इन्द्रियाँ–प्रदत्त जहाँ एक ओर व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर हैं (प्रत्यक्षीकरण न तो हम इन्हें जान पावेंगे) वहीं वे दूसरी ओर भैतिक वस्तुओं के वे भौतिक गुण है जो प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया से स्वतंत्र है और इन्हीं आधार पर हम भौतिक वस्तुओं, जिनके ये गुण है का अनुमान लगा पाते हैं।

वास्तववाद के परवर्ती विकास में मूर ने जिन्हें 'इन्द्रिय–प्रदत्त' कहा है, इनका बड़ा योगदान रहा है। प्रत्ययवाद का खंडन और सामान्य बुद्धि के बचाव में भी मूर का योगदान उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उनकी विश्लेषण की पद्यति जिसे हम 'इन्द्रिय–प्रदत्त' और नैतिक क्षेत्र में शुभ की अवधारणा के विश्लेषण में स्पष्टतः देख पाते हैं, ने भी परवर्ती दर्शन पूरे स्वरूप को ही बदल देने में बड़ा योगदान दिया है।

2.2. मूर का सामान्य बुद्धि वास्तववाद –

मूर ने जैसा कि हम पिछली इकाई में बता चुके हैं, प्रत्ययवाद का खंडन कर वास्ववाद को प्रतिष्ठित किया। वास्तववाद को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने स्पष्ट किया कि सामान्य बुद्धि के कुड विश्वास और उनसे संबंधित प्रतिज्ञप्तियाँ ऐसी होती है जिन पर बिना भरोसा किए हम रह हीनहीं सकते। मूर ने ऐसी तमाम प्रतिज्ञप्तियाँ गिनाई है कि जिनका उल्लेख हम पिछली इकाई में कर आए हैं। लेकिन फिलहाल जिस प्रतिज्ञप्ति पर हम विशेष कर ध्यान आकर्षित करना चाहते है। वह है, भौतिक वस्तुओं की वास्तविकता संबंधी प्रतिज्ञप्ति।

प्रत्ययवादी दार्शनिक प्रायः भौतिक वस्तुओं, देश–काल आदि को मात्र 'आभास' कह कर अवास्तविक करार दे देते हैं। यदि भौतिक वस्तुएँ अवास्तविक हैं, तो हम कैसे कह सकते हैं कि मेरे सामने एक लैपटाप है जिस पर अपने विचारों को दर्ज कर रहा हूँ। यदि काल अवास्तविक है तो फिर हम कैसे कह सकते हैं मेरे अध्ययनकक्ष में यह लैपटाप आज भी रखा है और कल भी यहीं रखा था और यदि मैं या और कोई इसे यहाँ से हटाता नहीं है तो आने वाले कल भी यह यहीं रखा रहेगा।

भौतिक वस्तुओं तथा देश–काल को अवास्तविक कहना या उन्हें आभास मात्र बताना एकदम विचित्र और अटपटी बात है। हर कोई अपनी साधारण बुद्धि से यह जानता है कि सिर्फ मेरा ही अस्तित्व नहीं है बल्कि मेरे सामने और मुझसे अलग जो वस्तुएँ हैं उनका भी अस्तित्व है और यह अस्तित्व आत्मा के स्वभाव का नहीं बल्कि यह पूरी तरह से भौतिक हैं। ये वस्तुएँ मेरे मन का विकार नहीं है और न ही इनका

अस्तित्व मेरे इन्हें देखे जाने में है। मैं जब इन्हें नहीं देखता तो भी इनके बने रहने में कोई फर्क नहीं आता। वे ज्यों की त्यों बनी रहती है। यहाँ जब हम भौतिक वस्तुएँ, देश–काल आदि शब्दो का प्रयोग कर रहे हैं तो सामान्य अर्थ में ही इनकी बात कर रहे हैं, किसी विशेष सूक्ष्म और परिभाषिक अर्थ में नहीं। हमारी सामान्य बुद्धि यह अच्छी तरह जानती है कि भौतिक वस्तुएँ देखने वाले में नहीं है बल्कि उससे अलग हैं आत्मिक (आत्मा के स्वभाव की) न होकर भौतिक है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इन्हें स्वीकार न करता हो। इन्हें सार्विक स्वीकृति या लगभग सार्विक स्वीकृति मिली हुई है और इन्हें स्वीकार करने के लिए व्यक्ति वाध्य होता है। इन्हें स्वीकार किए बिना हम रह ही नहीं सकते। यह स्वीकृति बाध्यकारी है। मूर के वास्तववाद के लिए इसी सामान्य बुद्धि तर्क को कभी तो सामान्य बुद्धि वास्तववाद(Common-Sense Realism)कहा गया है तो कभी 'प्राकृत–वास्तववाद (Natural Realism)कहा गया है। इसे कभी–कभी सहज या अनगढ़ वास्तववाद (Naive Realism)के नाम से भी जाना गया है।

यहाँ यह बता देना भी आवश्यक है कि मूर सभी सामान्य बुद्धि प्रतिज्ञप्तियों को अनिवार्य रूप से सही नहीं मानते। मोटे तौर पर केवल वे ही प्रतिज्ञप्तियाँ मान्य हैं जिन्हें सार्विक स्वीकृति मिली हो और जिनको माने बिना रहा ही न जा सके। आत्मा (ज्ञाता) से अलग भौतिक पदार्थ तथा देश–काल संबंधी ऐसी ही प्रतिज्ञप्तियाँ है और इन्हें इनके सामान्य अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिए न कि किसी अन्य परिभाषिक अर्थ में। साथ ही यहाँ यह जोड़ना भी जरूरी है कि सामान्य बुद्धि इन्हें 'प्रमाणित' नहीं करती बल्कि इनकी केवल मान्यता स्वीकार करती है।

2.3. सामान्य बुद्धि और इन्द्रियानुभव –

सामान्य बुद्धि के विश्वासों की मान्यता के लिए यो तो मूर ने कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु इनके समर्थन में वह कभी–कभी इन्द्रियानुभव को साक्ष्य बनाते हैं। वह कहते हैं कि प्रत्यक्षीकरण द्वारा (मोटे तौर पर देखने से) हमें जो वाह्य भौतिक वस्तुओं की जानकारी होती है, वह जैसी की तैसी ही हमारे प्रत्यक्ष में आती है। हमारा अनुभव करना किसी न किसी विषय का होता है। इन्द्रियानुभविक ज्ञान विषय निर्भ होता है। इन्द्रियानुभव से ही हम भौतिक पदार्थों का अनुमान लगाते हैं। भौतिक पदार्थ हमारे इन्द्रियानुभव में आते हैं, इन्द्रियानुभव में सम्मिलित रहते हैं तभी हम, जैसे कि वे पदार्थ हैं वैसा ही हम उन्हें जान पाते हैं।

सामान्य बुद्धि द्वारा यह मानते हुए कि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व है, फिर भी मूर यह प्रश्न उठाते हैं कि हम इन वस्तुओं को जानते कैसे हैं। सामान्यतः हम इन्हें इन्द्रियानुभव से ही जानते हैं किन्तु वह कहते हैं कि वस्तुओं का जानना केवल इन्द्रियों द्वारा ही नही होता। हम उन्हें अपनी स्मृति से भी जान सकते हैं। जिन वस्तुओं को हमने कभी 'देखा' है उनके अस्तित्व को स्मृति के माध्यम से याद कर सकते हैं भले ही वे फिलहाल हमारे समक्ष न हों। पुनः हम वस्तुओं को न केवल स्मृति द्वारा बल्कि जिन वस्तुओं को हमने देखा नही है और जो हमारी स्मृति में नलहीं है, उन्हें हम दूसरों के साक्ष्य–कथन से भी जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त अनुमान से तो हम दूसरों के साक्ष्य–कथन(Testimony)से भी जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त अनुमान से तो हम उन्हें जानते ही है। लेकिन मुद्दे की बात यह है कि हम वस्तु को चाहे

किसी माध्यम से जानें–स्मृति से, दूसरों के साक्ष्य से या अनुमान से –इन सबके पीछे किसी न किसी का प्रत्यक्षीकरण तो रहता ही है। वस्तुओं के प्रति हमारी सारी जानकारी का आधर अंततः इन्द्रियानुभव ही है। वस्तुओं के प्रति अवगत होने का मूल साधन प्रत्यक्षीकरण ही है।

मूर कहते हैं हमारे भविष्य कथन भी इसी बात की और संकेत करते हैं। एक उदाहरणस देते हुए वह समझाते है कि मान लीजिए हम अपने कक्ष में अंगीठी में आग सुलगती हुई देखते हैं। कमरे से बाहर आकर हम अपेक्षा करते हैं कि हमारी अनुपस्थिति में भी वह आग कुछ समय तक तो जलती ही रहेगी। हम अपनी इस अपेक्षा को कुछ देर बाद दोबारा कमरे में जाकर सत्यापित कर सकते हैं। मूर कहते हैं कि हमारी अनुपस्थिति में यदि आग न जलती रही होती तो हम उसे लौटने पर जलती नहीं पा सकते थे। यानी जब कोई नहीं देख रहा होता है तो भी भौतिक घटनाएँ और वस्तुएँ तो अपनी जगह रहती ही हैं। इन्द्रियानुभव इस प्रकार हमें यह मानने के लिए विवश करता है कि अनुभव से परे, उससे बाहर एक भौतिक पदार्थ का जगत भी है। अनेक विषय ऐसे होते हैं जिनके बारे में यदि हम अभिज्ञ (अवगत) न भी हों तो भी उनका स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है। हमारी अभिज्ञता से उनके होने या न होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

2.4. इन्द्रियानुभव और इन्द्रिय–प्रदत्त –

जी. ई. मूर केवल यह कहकर कि हमारी सामान्य बुद्धि हमें यह स्पष्ट बताती है कि हम प्रत्यक्षीकरण द्वारा भौतिक वस्तुओं को देखते हैं, अपनी बात समाप्त नहीं कर देते। वह प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए अपने एक अन्य लेख(The Nature of Reality of Objects of Preception)इन्द्रिय–प्रदत्तों और भौतिक वस्तुओं में भेद करते हैं और कहते हैं कि वह जो हम वास्तव में देखते हैं, इन्द्रिय प्रदत्त है न कि भौतिक वस्तुएँ। वस्तुतः हमारा प्रत्यक्षीकरण वस्तुओं के प्रत्यक्ष संपर्क में नहीं आता। हमें सबसे पहले वस्तुओं के रूप में रंग आदि की संवेदना होती है। उदाहरण के लिए हम एक पके टमाटर को प्रत्यक्षतः और उसकी संपूर्णता में नहीं देखते। सबसे पहले हमारी चेतना में उसकी गोलाई और उसका लाल रंग आता है। टमाटर की गोलाई और उसकी लालिमा ही वह 'प्रदत्त' है जिसकी प्रथम संवेदना हमें प्राप्त होती है।

मूर ने इसे बेशक 'संवेदना' कहा है किन्तु यह संवेदना प्रत्यक्षीकरण के पूर्व होने वाली वह संवेदना जो पूरी तरह से मानसिक होती है नहीं है। यह संवेदना इन्द्रिय प्रदत्तों से अवगत होने की संवेदना है जिसमें हम भले ही वस्तु को न देख पाएँ किन्तु उसके गुणों से अवगत हो जाते हैं। यह इन्द्रिय प्रदत्तों की निश्चित संवेदना है। यह प्रत्यक्षीकरण से पूर्व वाली कोई कोरी अनिश्चित संवेदना नहीं है।

लॉक ने वस्तु के प्राथमिक और गौण गुणों में भेद किया था। वस्तु के वे गुण जो प्रत्यक्षीकरण के साथ बदलते रहते हैं वे गौण इस अर्थ में कहे जाते हैं कि वे उनके अनुसार वस्तु के गुण न होकर पूरी तरह देखने वाले पर निर्भर करते हैं। किन्तु मूर के इन्द्रिय प्रदत्त यद्यपि प्रत्यक्षीकरण में बदलते रहते हैं किन्तु वे व्सतु के ही गुण होते ळैं, देखने वाले के द्वारा उन्हें आरोपित नहीं किया जाता। वे वस्तुनिष्ठ हैं।

मूर के अनुसार इस प्रकार हमें सबसे पहले इन्द्रिय–प्रदत्तों में टमाटर अपनी संपूर्णता में हमें भले ही न मिल पाए, टमाटर का रंग–रूप उसकी गोलाई आदि हमारे अनुभव में आ सकती है। अपने प्रत्यक्षीकरण में टमाटर के ये गुण ही हमें प्रदत्त हैं जिनके आधार पर हम टमाटर का अनुमान लगाते हैं।

मूर के इन्द्रिय–प्रदत्त के बारे में तीन प्रमुख बातें ध्यान देने की हैं –

1- ये बात तो सभी मानेंगे कि हमारा प्रत्यक्षीकरण किसी न किसी चीज से हमें अवगत कराता है। मूर के अनुसार हम अपने प्रत्यक्षीकरण में प्रत्यक्षतः, इन्द्रिय–प्रदत्तों (वस्तु के गुणों) से ही अवगत होते हैं, वस्तु से नहीं। वस्तु का अनुमान हम इन प्रदत्तों से ही लागते हैं।

2- इन्द्रिय प्रदत्त हमारे मन पर निर्भर करते हैं।

3- ये होते वस्तु के गुण ही है जिन्हें हम प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं। प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के ये उत्पाद नही हैं। ये प्रदत्त हैं, इन्हीं से ज्ञान की प्रक्रिया आरंभ होती है। ये प्रदत्त विषय (वस्तु) और मन दोनों से ही भिन्न हैं। ये वस्तु न होकर वस्तु का मानों प्रतिनिधित्व करते हैं और मानसिक न होते हुए भी प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर हैं।

सक्षात ज्ञान हमें केवल इन्द्रिय प्रदत्तों का ही होता है। मूर के समर्थन में रसेल की आरंभिक सोच भी यही थी। सामान्यतः इन इन्द्रिय प्रदत्तों को आत्मनिष्ठ और असतत् (जिनमें निरंतरता न हो) माना गया है। हर व्यक्ति असंगत और परस्पर विरोधी इन्द्रिय दत्तों का अनुभव करता है। एक बार व्यक्ति तथाकथित गोल सिक्के को गोल देखता है तो दूसरा व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुसार उसे चपटा देखता है। फिर क्या इन्द्रिय प्रदत्त आत्मनिष्ठ हैं? वे न तो मानसिक अवस्थाएँ हैं और न ही किन्ही मानसिक अवस्थाओं के संगठक हैं। रसल कहते हैं कि वे जो भी हों, होते गैर–मानसिक ही हैं। उन्हें गैर–मानसिक स्वीकार करने में न तो मूर को और न ही रसल को कोई हिचक रही है क्योंकि एक बार यदि हम यह स्वीकार कर लें कि इन्द्रिय–प्रदत्त गैर मानसिक हैं तो हमें वस्तुओं/संवेद्य विषयों (सेसिबिलिया) को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। हम इन्द्रिय प्रदत्तों से भौतिक विषयों का (जैसे मेज कुर्सी आदि) न केवल अनुमान लगा सकते हैं बल्कि जैसा कि रसल कहते हैं, हम इन्द्रिय प्रदत्तों से संवेद्य विषय 'घटित' कर लेते हैं। तथाकथित असंगति अथवा निरंतरता का अभाव जो हमें अपने इन्द्रिय–प्रदत्त के अनुभवों में आता है उसका कारण हमारी देश और काल की स्थितियाँ हैं।

2.5 जी ई मूर का दार्शनिक योगदान–

जी मूर ने अपने समय के एक अत्यंत प्रभावशाली दार्शनिक रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्त्तार्द्ध में ब्रैडले और मेक्टागर्ट का ब्रिटिश फिलॉस्फी में बोलबाला था। उनके प्रत्ययवाद को चुनौती देने वाला कोई नही था। ऐसे में बहुत कुछ अकेले ही जी.मूर ने यह काम कर दिखाया और तुर्रा यह कि डन्होंने प्रत्ययवाद के खंडन के लिए उस समान्य बुद्धि को आधार बनाया जिसे प्रत्ययवादियों ने हमेशा न केवल संदेह की दृष्टि से देखा बल्कि सामान्य बुद्धि प्रतिज्ञप्तियों को अपनी प्रत्ययवादी दार्शनिक कसौटी पर सत्य न मानकर उन्हें दर्शन का विरोधी माना। अभी तक दर्शन का काम सामान्य बुद्धि प्रतिज्ञप्तियों की परीक्षा करना था। मूर ने इसका उल्टा किया। सामान्य बुद्धि प्रतिज्ञप्तियों द्वारा प्रत्ययवाद के दार्शनिक निष्कर्षों परीक्षा की और

उन्हें गलत ठहराया। आज हम मूर के इस सामान्य बुद्धि दृष्टिकोण की अनेक सीमाएँ गिना सकते हैं, लेकिन उस समय प्रत्ययवाद की नींव हिला दने में इसका सर्वाधिक योगदान माना जाता है।

जी. मूर के प्रत्ययवाद के खंडन का उद्देश्य केवल नकारात्मक ही नहीं था। इसका सकारात्मक पहलू प्रत्ययवाद का विरोध करते हुए वास्तववाद को प्रमाणित करने की कोई कोशिश नहीं की। भौतिक वस्तुओं को सार्विक रूप से सामान्य बुद्धि स्वीकार करती है, उनके लिए यह अगर इसे हम 'साक्ष्य' कह सकते हैं काफी था। लेकिन फिर भी उन्होंने इन्द्रियानुभव का तर्क देकर इसे पुष्ट किया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि हमारे इन्द्रियानुभव में भौतिक वस्तु भले ही प्रत्यक्षतः न आए लेकिन भौतिक वस्तुओं के रूप–रंग, गुण आदि इन्द्रिय–प्रदत्त हैं। मूर की इन्द्रिय–प्रदत्त की अवधारणा के बाद में अमेरिका में वास्तवादी दर्शन के तर्क को आगे बढ़ाने में अपना बड़ा योगदान दिया।

दर्शनशास्त्र के इतिहास में आरंभ से ही विश्लेषण की पद्धति अपनाई जाती रही है किन्तु जिसे हम आज 'दार्शनिक विश्लेषण कहते हैं और जिसे दर्शन में अन्य पद्धतियों से हम अलग करते हैं, वह प्रणाली बीसवीं शताब्दी में ही विकसित हुई और इसके प्रयोग को मूर ने ही आरंभ किया। अतः प्रायः एक मत से यह कहा जा सकता है कि विश्लेषणात्मक दार्शनिक प्रणाली के वर्तमान रूप के प्रणेता/जनक जी.ई.मूर ही हैं।

मूर का दार्शनिक समस्याओं का सामना करने का अपना ही ढंग है किन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि मूर ने स्वयं यह कभी नहीं कहा कि वे अपनी दार्शनिक विवेचना में कोई या किसी विशेष दार्शनिक–विश्लेषण की विधि का प्रयोग कर रहे हैं न ही उन्होंने यह कहा कि दर्शन की एक मात्र विधि विश्लेषणात्मक विधि ही है। मूर विश्लेषण का अर्थ जटिल शब्दों में, बल्कि कहना चाहिए जटिल प्रत्ययों/अवधारणाओं का विश्लेषण उन सहज प्रत्ययों में करते हैं जिनसे हमें किसी जटिल प्रत्ययों का सहज अवधारणा का समग्र रूप पता चल सके। यानि विश्लेषण का काम उनके अनुसार जटिल प्रत्ययों को सहज प्रत्ययों में परिभिाषित करना है और यह काम विश्लेषण द्वारा ही संभव है। प्लेटो ने इसी काम को वास्तविक परिभाषा(RealDefinition)कहा और कुछ आधुनिक दार्शनिक इसे सही विश्लेषण(Correct Amalysis)कहते हैं। मूर के अनुसार भी परिभाषा करने का सबसे अच्छा तरीका यही है। किन्तु स्पष्ट ही इस प्रकार के विश्लेषण से केवल उन जटिल प्रत्ययों की ही परिभाषा संभव है जिन्हें सहज प्रत्ययों में परिभाषित किया जा सकता है कि मूर शब्दों को परिभाषित नहीं करते बल्कि अवधारणाओं और प्रतिज्ञप्तियों को परिभाषित करते हैं। शब्द के भाव को, उसमें निहित अवधारणा को स्पष्ट करना चाहते हैं। इस प्रकार मूर का विश्लेषण भाषाई विश्लेषण न होकर अवधारणाओं का विश्लेषण है।

मूर ने विश्लेषण को अनेक दार्शनिक कार्यों में से एक कार्य माना है। उन्होंने दर्शन में उसे केन्द्रीय स्थान कभी नहीं दिया। लेकिन मूर का दार्शनिक कर्म एक ऐसी प्रवृत्ति थी जिससे परवर्ती दर्शन काफी प्रभावित हुआ। आज तो कुछ दार्शनिक, इस विश्लेषण को ही एक मात्र दार्शनिक कर्म मानने लगे हैं। दर्शन के क्षेत्र में मूर का यह भी एक बड़ा योगदान माना जाना चाहिए।

2.6. सारांश–

कुछ ऐसी धारणाएँ हैं जिन पर हम सभी सार्विक रूप से या कहें लगभग सार्विक रूप से विश्वास करते हैं। उन पर विश्वास किए बगैर हम रह नहीं सकते, हमारा काम ही नहीं चल सकता। जी.ई.मूर ने ऐसी अनेक धारणाओं को गिनाया है। इनमें से एक विश्वास भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व तथा देश–काल पर हमारा विश्वास भी है। सामान्य बुद्धि पर आधारित यही विश्वास मूर के वास्तव के मूल में निहित है। इसलिए इसे सामान्य–बुद्धि वास्तवाद भी कहा गया है।

जी.ई.मूर अपने वास्तववाद की पुष्टि के लिए इन्द्रियानुभव का तर्क भी देते हैं। उनके अनुसार हमारे इन्द्रियानुभव में यह स्पष्ट है कि दृष्टा (प्रत्यक्षीकरण करने वाले मन या आत्मा) से अलग और स्वतंत्र, भौतिक वस्तुओं का भी अस्तित्व है और वे आत्मा के स्वभाव की न होकर भौतिक है। हम इन्हीं भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण करते हैं।

किन्तु क्या हमें वास्तव में भौतिक वस्तुओं का प्रत्यक्षतः प्रत्यक्षीकरण हो पाता है? मूर का कहना है कि हमें प्रत्यक्षतः भौतिक वस्तुओ का प्रत्यक्षीकरण न होकर उनके रंग–रूप आदि गुणों का प्रत्यक्षीकरण होता है। अपने प्रत्यक्षीकरण में हम सर्वप्रथम उन्हीं के बारे में अवगत होते हैं, उन्हीं की हमें चेतना होती है। प्रत्यक्षीकरण में हमें स्वयं भौतिक वस्तुएँ 'प्रदत्त' नहीं है। हमें जो इन्द्रिय–प्रदत्त है वह केवल भौतिक वस्तुओं के गुण आदि ही हैं।

मूर के ये इन्द्रिय–प्रदत्त जहाँ एक ओर हमारे प्रत्यक्षीकरण पर निर्भर हैं (क्योंकि उनके बारे में हम प्रत्यक्षीकरण द्वारा ही अवगत हो पाते हैं।) वहीं वे प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया से स्वतंत्र भौतिक वस्तुओं के भौतिक गुण ही हैं, वे मन द्वारा दृश्य पर आरोपित गुण नहीं है। वे पूरी तरह गैर मानसिक हैं।

आगे चलकर वास्तववाद में विकास के मूर की 'इन्द्रिय–प्रदत्त' की धारणा का बड़ा योगदान रहा है। मूर अपने समय का पहला दार्शनिक था जिसने अकेले ही प्रत्ययवाद का न केवल जोरदार खंडन किया बल्कि इस खंडन के साथ ही साथ वास्तववाद को भी प्रतिष्ठित किया। सामान्य बुद्धि जो अभी तक दर्शनशास्त्र की आलोचना की शिकार थी, उसे मूर ने सिर्फ इज़्जत बक्शी बल्कि उसे मानक मानकर प्रत्ययवाद की असंगत और सामान्य बुद्धि की समझ से पूरी तरह अटपटी धारणाओं की आलोचना की। मूर ने जिस विश्लेषण पद्धति को अपनाया वह पारदर्शी दर्शनशास्त्र की केन्द्रीय पद्धति बन ई। दर्शन के इतिहास में मूर का योगदान आज भी कमतर नहीं है।

2.7. परिभाषिक शब्दावली

Unreal – अवास्तविक

Appearance –आभास

Spiritual – **अत्मिक,** आत्मा के स्वभाव का

Sense Experience –इन्द्रियानुभव

To Deduce –घटित करना

Qualities –गुण

Non-mental – गैर मानसिक

Philosophical Analysis – दार्शनिक विश्लेषण

To Perceive –देखना

Direct – प्रत्यक्षतः

Material Objects – भौतिक वस्तुएँ

Realism –वास्तववाद

Sensation –संवेदना

Sensible/pl. Sensibilia –संवेद्य

Correct analysis – सही विश्लेषण

Direct Knowledge –साक्षात ज्ञान

Testiomny –साक्ष्य

3.8. प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. मूर के वास्तवाद की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए? इसे सामान्य बुद्धि वास्तवाद क्यों कहा जाता है?
2. मूर किस प्रकार सामान्य बुद्धि को इन्द्रियानुभव के तर्क से पुष्ट करता है? स्पष्ट कीजिए।
3. इन्द्रिय प्रदत्त किसे कहते हैं? प्रत्यक्षीकरण और इन्द्रियानुभव से इन्द्रिय–प्रदत्त का संबंध सुनिश्चित कीजिए?
4. इन्द्रिय प्रदत्त की संवेदना/चेतना का प्रत्यक्षीकरण(Perception)की पूर्वगामी संवेदना(Sensetion)से तथा लॉक के गौण गुणों(Secondary Qualities)से अंतर बताते हुए अइन्द्रिय प्रदत्त की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए?
5. दर्शन में जी.मूर के योगदान पर निबंध लिखिए?

लघु उत्तरीय प्रश्न –

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए –

1. सामान्य – बुद्धि वास्तववाद

2. प्रत्यक्षीकरण और इन्द्रिय–प्रदत्त

3. इन्द्रिय–प्रदत्त (मूर) और लॉक के गौण गुण (Secondary Qualities)

निम्नलिखित का परीक्षण कीजिए और उन्हें सही या गलत की कोटि में रखिए –

1. इन्द्रिय प्रदत्त हमें वस्तु के गैर–मानसिक गुणों से अवगत कराते हैं। (सही / गलत)
2. इन्द्रिय प्रदत्तों द्वारा हम भौतिक वस्तु को प्रत्यक्षतः 'देख' पाते हैं। (सही / गलत)
3. इन्द्रिय प्रदत्त प्रत्यक्षीकरण से पूर्व वाली अस्पष्ट संवेदना है। (सही / गलत)
4. इन्द्रिय प्रदत्तों से हम भौतिक वस्तुओं का अनुमान लगाते हैं। (सही / गलत)

3.9. पठनीय पुस्तकें

5. Schilpp PA- The Philosophy of G. E. Moore
6. Standard Encyclopedia of Philsosophy (Sense Data)
7. G. E. Moore , Some Main Problems of Philosophy, Ch.2
8. डॉ. सुरेन्द्र वर्मा, पाश्चात्य दर्शन की समकालीन प्रवृत्तियाँ, भोपाल।

खंड–2: बर्ट्रेंड रसेल

इकाई–3 साक्षात परिचय ज्ञान एवं वर्णानात्मक ज्ञान

इकाई की रूपरेखा–

3.1 उद्देश्य

3.1.1 प्राक्कथन

3.2 रसेल का जीवनवृत्त

3.3 बर्ट्रेंड रसेल और जी. ई. मूर

3.4 रसेल का साक्षात ज्ञान और जी. ई. मूर

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 प्रश्नावली

3.8 पाठ्य– पुस्तकें

———————————

3.1 – उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य बर्ट्रेंड रसेल के जीवन वृत्त को समझते हुए उनके चिंतन पर पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक प्रभावों से परिचित होना है। रसेल के आरंभिक दार्शनिक विचारों पर जीई मूर का विशेष प्रभाव पडा था। मूर ने ही उन्हें प्रत्ययवाद के आकर्षण से मुक्त किया था। साथ ही मूर की (इन्द्रिय–प्रदत्त) की अवधारणा से वह उनके सामान्य बुद्धि पर अत्यधिक आग्रह से हटकर वैज्ञानिक सोच की ओर प्रवृत्त हुए। इस इकाई में हमने रसेल पर मूर के इस वृहद् प्रभाव को समझने का भी प्रयत्न किया है।

3.1.1 – प्राक्कथन

रसेल का जन्म एक संपन्न परिवार में हुआ था। उनके दादा के राजनैतिक कद का इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि वह दो बार इग्लैण्ड के प्रधानमंत्री रहे थे। बर्ट्रेंड रसेल के पिता की अकादमिक

रूचि थी। किन्तु बर्ट्रेंड रसेल का यह दुर्भाग्य था कि उनके माता–पिता का देहांत जल्द ही हो गया और उनका बचपन अपनी दादी के कड़े अनुशासन में गुजरा। इस अनुशासन ने ही उन्हे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्त्व को समझने में प्रेरित किया और बर्ट्रेंड रसेल आजीवन अपने दार्शनिक और सामाजिक–राजनैतिक विचारों में स्वतंत्रता के समर्थक रहे।

रसेल के आरंभिक दार्शनिक विचारों पर, उनके आरम्भिक वस्तुवादी चिंतन पर, जीई मूर का गहरा प्रभाव था। जीई मूर ने ही उन्हें प्रत्ययवाद के आभा–मंडल से मुक्त किया और वास्तववाद की ओर उन्मुख किया। इतना ही नहीं, मूर की इन्द्रिय–प्रदत्त की अवधारणा ही रसेल को साक्षात ज्ञान और वर्णन ज्ञान में अंतर सुनिश्चित करने में सहायक रही।

3.2– रसेल का जीवनवृत्त

किसी भी दार्शनिक के विचारों को समझने के लिए यह आवश्यक है की हम उसके पारिवारिक, सामाजिक और आर्थिक परिवेश को जो उसकी सोच की पृष्ठभूमि में कार्यरत रहते हैं, जानने की कोशिश करें। हर व्यक्ति अपने परिवेश और वंशानुक्रम से जुड़ा होता है और यही कारक उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। जाहिर है बर्ट्रेंड रसेल जैसे प्रतिभाशाली, प्रसिद्ध और विवादास्पद दार्शनिक और गणितज्ञ भी इसका अपवाद नहीं हैं।

बर्ट्रेंड आर्थर विलियम रसेल (1872-1970) का जन्म इंग्लैंड में वेल्स के ट्रेलेक नामक एक कस्बे में हुआ था। उनके बाबा (पितामह), जौन रसेल थे। उन्हें लार्ड की उपाधि मिली हुई थी। राजनीति में उनका काफ़ी दबदबा था। वह क्वीन विक्टोरिया के शासन काल में दो बार इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री रहे। जॉन स्टुअर्ट मिल जो उस समय के एक विख्यात विचारक थे रसेल के माता–पिता के मित्रों में से एक थे।इससे परिवार का अकादमिक रुझान का भी पता चलता है। किन्तु इसके बावजूद बर्ट्रेंड रसेल का बचपन बहुत कष्टप्रद रहा।

रसेल के माता–पिता का देहांत बचपन में ही हो गया था और इस प्रकार रसेल की परवरिश उनके दादा–दादी पर आ गई थी। दादा का देहांत हो जाने के बाद तो दादी ने ही रसेल को पाला–पोसा। वह बहुत सख्त और जरूरत से ज्यादा ही नैतिकतावादी थी। रसेल को प्रायः चर्च ले जाया जाता था। किन्तु वहां का वातावरण भी उन्हें रास नहीं आता था। अपनी किशोरावस्था में ही रसेल का विश्वास धर्मशास्त्रीय सिद्धांतों और ईश्वर या अमरता की धारणाओं आदि से समाप्त हो गया था। वह बहुत अकेला महसूस करने लगे थे। उनका कोई संगी–साथी नहीं था। ऐसे में कभी–कभी उन्हें आत्महत्या करने का विचार तक आ जाता था।रसेल ने तब गणित में जबरदस्त दिलचस्पी पैदा कर ली थी। वह गणित का विस्तार से अध्ययन करना चाहते थे और इसी के चलते वह आत्महत्या से बचते रहे। रसेल को स्कूली शिक्षा नहीं मिली। शिक्षकों द्वारा उन्होंने घर पर ही पढ़ा। दर्शनशास्त्र और गणित उनका प्रिय विषय था। जिसमें उन्होंने काफी–कुछ महारत हासिल कर ली थी। बाद में उन्होंने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटीकालेज में दर्शनशास्त्र और गणित में चार वर्ष तक अध्ययन किया। पांच–छः वर्ष तक वह वहां फैलो भी रहे। तदुपरांत 1910 से 1916 तक वहीं पर दर्शनशास्त्र के लेक्चरार बन गए ।

लेकिन अपनी शांतिवादी गतिविधियों के कारण जो ट्रिनिटी कालेज में पसंद नहीं की गईं रसेल को 1916 में अपने पद से हटा दिया गया। उसके बाद वह लगभग 15 वर्ष तक किसी भी अकादमिक पद पर

नहीं रहे। इन दिनों वह अपने लेखन और व्याख्यानों आदि से अपनी जीविका चलाते रहे। नैतिकता और शिक्षा, समाज और विवाह आदि, विषयों पर उन्होंने अपने विचारों को बड़ी निडरता से खुलकर अभिव्यक्त किया।

रसेल ने दर्शन संबंधी मौलिक कार्य प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ तक कर लिया था। वर्ष 1938 में जब उन्हें अमेरिका के कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से बुलावा आया तो वह एक बार फिर से दर्शन की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने वहां शिकागो और केलिफोर्निया विश्वविद्यालयों (केलिफोर्निया वि.वि, तब लॉस एंजिल्स में स्थित था) में अध्यापन कार्य किया। वार्नस फाउंडेशन ऑफ फिलाडेल्फिया में उन्होंने जो व्याखान दिए वो बाद में विस्तार से उनके ग्रन्थ *'ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसफी'* में प्रकाशित हुए। किन्तु किन्हीं कारणों से रसेल तीन दिन के नोटिस पर फाउंडेशन से निष्कासित कर दिए गए उन्होंने अपनी बहाली के लिए कार्यवाही की और उसमे सफल भी हो गए। लेकिन तब तक उन्हें अपने पुराने ट्रिनिटी कालेज में पुनः फैलो चुन लिया गया और वह दोबारा इंग्लैंड आ गए ।

राजनीति में अपनी दिलचस्पी के चलते बर्ट्रेंड रसेल ने तीन बार सांसद बनने के लिए चुनाव लड़ा, लेकिन दुर्भाग्यवश वे तीनों ही बार असफल रहे। रसेल के लेखन को अपमान जनक ठहराते हुए उन्हें दो बार जेल की यात्रा भी करनी पडी। परमाणु निरस्तीकरण अभियान में जुड़े होने से उन्हें नवासी(89) वर्ष की उम्र में एक सप्ताह के लिए जेल जाना पडा।

बर्ट्रेंड रसेलएक ईमानदार और बेबाक विचारक थे। वर्ष 1950 में रसेल को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। इस सर्वोच्च पुरस्कार के अलावा भी उन्हें कई अन्य सम्मानों से पहले ही नवाजा जा चुका था। वह रायलसोसायटी के फैलो चुने गए, ब्रिटिश अकादमी के ओनरेरी फेलो रहे। उन्हें ऑर्डर ऑफ मेरिट अवार्ड मिला। अरिस्टोरियन सोसायटी के वह तीन बार अध्यक्ष रहे और रेशनलिस्ट प्रेस असोसिएशन के वह वर्षों तक प्रेसिडेंट रहे।

यह एक बड़े आश्चर्य की बात है कि रसेल जैसा अत्यंत प्रभावशाली चिंतक अपने पीछे अपना कोई दार्शनिक 'वाद' छोड़ कर नहीं गया। वह किसी भी दार्शनिक आन्दोलन से जुडे. भी नहीं। फिर भी रसेल का प्रभाव बीसवीं शताब्दी के एंग्लो–अमेरिकन दर्शनपरजितना पडा शायद ही इतना किसी अन्य दार्शनिक का पड़ा हो। रसेल यों तो मोटे तौर पर एक वास्तववादी और अनुभववादी दार्शनिक के रूप में जाने जाते हैं, किन्तु वह कट्टर रूप से वास्तववादी कभी नहीं रहे। हमारे सभी विश्वास केवल अनुभव पर ही आश्रित हैं,ऐसा वह बिना हिचक कभी नहीं कह सके इसी प्रकार यद्यपि उनका आग्रह दार्शनिक विधि के रूप में 'विश्लेषण' पर जरूर रहा लेकिन उन्होंने विश्लेषण को एकमात्र दार्शनिक विधि के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया।

अपने आरंभिक वर्षों में रसेल, प्रत्ययवाद से बेहद प्रभावित थे। हीगेल और मेक्टैगर्ट के अलावा, ब्रेडले का निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Absolute Idealism) उन्हें बड़ा आकर्षित करता था। उन्हें यह सोच सोचकर बड़ी आनंदानुभूति होती थी कि देश, काल और भौतिक वस्तुएं यथार्थ का आभास मात्र है और हमारा पूरा का पूरा भौतिक जगत एक मानसिक व्यवस्था है। लेकिन मूर के प्रभाव ने उन्हें जल्द ही प्रत्ययवादी पाश से मुक्त कर दिया। वह धीरे–धीरे वित्गेंस्टाइन के प्रभाव में आकर अपने गणित के आकर्षण से भी मुक्त हो गए। रसेल प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिकाओं को देखकर बेहद विचलित हो गए और प्रत्ययवादी दृष्टि से

इन विभीषिकाओं को केवल मानसिक मानने के लिए तैयार नहीं हुए। ये वास्तविक और आनुभविक अनुभूतियाँ हैं और इन्हें किसी भी दार्शनिक सिद्धांत को अपनाकर इनकार नहीं किया जा सकता। मनुष्य पूरी तरह से दुःख और हिंसा से घिरा हो तो उसे प्रत्ययवाद में पलायन या धर्मशास्त्रीय दुःख की विवेचना संतोष नहीं दे सकती। इन्हीं सब कारणों से रसेल शांतिवाद के समर्थक बन गए।

रसेल एक बहुविध प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अनेक विषयों पर लिखा। उनकी प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं ––

- प्रिंसिपल्स ऑफ मेथमेटिक्स (केम्ब्र्ज, 1802)
- प्रोब्लम्स ऑफ फिलोसोफी (न्यूयार्क, 1912)
- आवर नोलेज ऑफ द एक्सटरनल वर्ड (1914)
- मिस्टीसिज्म एंड लाजिक (लन्दन, 1918)
- द एनालसिस ऑफ माइंड (न्यूयोर्क, 1921)
- द एनालसिस ऑफ मैटर (1927)
- प्रिन्सपिया मैथमैटिका, 2 खंड (वाईटहेडकेसाथ –1910–13)
- एन एन्कुआइरीइनटू मीनिंग एंड ट्रुथ (न्यूयार्क 1940)
- ह्यूम – नोलेज इट्स स्कोप एंड लिमिट्स (न्यूयोर्क 1948)
- व्हाई आई एम नाट ए क्रिशचियन (लन्दन 1946)
- ए हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी (न्यूयार्क 1946)
- प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रीकंसट्रकशन (लन्दन 1948)
- प्रोब्लम्स ऑफ चाइना (न्यूयोर्क 1922)
- ए न्यू सोशल अनालिसस (लन्दन 1946)
- न्यू होप्स फॉर ए चेंजिंग वर्ल्ड (लन्दन 1951)
- स्केप्टीकल एसेज (1915)
- बर्ट्रेंड रसेल स्पीक्स हिज माइंड (1960)

3.3 –बर्ट्रेंड रसेल और जी.ई. मूर

बर्ट्रेंड रसेल के व्यक्तित्वपर अनेक दार्शनिकों का प्रभाव पडा और उन्होंने बड़ी उदारता पूर्वक इसे स्वीकार भी किया। लेकिन जिन लोगों ने उन्हें सर्वाधिक प्रभावित किया और उनके चिंतन की दिशा ही बदल दी वह जीई मूर थे। रसेल और मूर–ये दो नाम दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में एक दूसरे से ऐसे जुड़ गए हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता।

रसेल ने कैम्ब्रिज से जब अपना स्नातक पाठ्यक्रम समाप्त ही किया था, उनकी मुलाकात मूर से हो गई। मूर वहां 'क्लासिक्स' का अध्ययन करने आए थे लेकिन रसेल का साथ मिलने पर वह दर्शन की ओर उन्मुख हो गए। मूर भी रसेल की तरह आरम्भ में प्रत्ययवाद के आभामंडल से बाहर नहीं आ पाए थे

लेकिन उनकी सामान्य–बुद्धि ने प्रत्ययवाद की धारणाओं और सिद्धांतों को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। और वह प्रत्ययवाद के खंडन में जुट गए। उन्होंने प्रत्ययवाद के विरुद्ध मानों एक आन्दोलन ही खड़ा कर दिया। रसेल उनके साथ हो लिए। दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में मूर और रसेल की ख्याति इसी आन्दोलन के कारण हुई। दोनों ने ही एक दूसरे का आभार मानने लगे। मूर कहते थे मैंने रसेल को (वैचारिक रूप से) शायद अपनी गलतियों के और कुछ नहीं दिया, किन्तु रसेल की प्रकाशित पुस्तकों से मुझे बहुत कुछ मिला। वहीं रसेल का कहना था मूर ने प्रत्ययवाद का जो विरोध किया उसका अनुसरण कर मुझे एक तरह की मुक्ति का अहसास हुआ और मैं प्रत्ययवाद के आभामंडल से बाहर आ सका।

मूर ने दार्शनिक निर्णयों को परखने के लिए सामान्य बुद्धि को पैमाना बनाया और इसी के आधार पर उन्होंने प्रत्ययवाद का खंडन किया। मूर ने भरसक स्वयं को तकनीकी भाषा से दूर रखा। उनका साधारण भाषा और सामान्य ज्ञान में बड़ा विश्वास था। क्योंकि रसेल की अकादमिक पृष्ठभूमि गणित की थी अतः सूत्रात्मक तकनीकी भाषामें उनकी अधिक दिलचस्पी और भरोसा था।

यद्यपि सामान्य–बुद्धि औरसाधारण–भाषा की कसौटी पर रसेल ने मूर के प्रत्ययवाद के खंडन को तो स्वीकार किया लेकिन वह सामान्य बुद्धि की नींव पर टिके मूर के 'सामान्यबुद्धिदर्शन' से संतुष्ट नहीं थे। प्रत्ययवाद को परखने की दृष्टि से सामान्य बुद्धि को रियायत देते हुए भीउन्होंने उसका बचाव कभी नहीं किया। उन्होंने विज्ञान को अधिक वरीयता प्रदान की। उदाहरण के लिए मूर जहां सामान्य बुद्धि के आधार पर भौतिक वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, रसेल उसे एक वैज्ञानिक परिकल्पना के रूप में देखते हैं।

पर यहाँ यह जानना भी अत्यंत आवश्यक है कि मूर भी विज्ञान के विरुद्ध नहीं थे। सामान्य बुद्धि के उन सर्वस्वीकृत विश्वासों को जिन्हें कालान्तर में विज्ञान ने खंडित कर दिया, मूर भी उन्हें निरस्त करने से चूके नहीं। इसी प्रकार रसेल भी पूरी तरह से वैज्ञानिक और तकनीकी भाषा के मुरीद नहीं थे। यद्यपि उनकी कृति 'प्रिसिपियामेथमैटिका' इतनी तकनीकी भाषा में लिखी गयी है कि सामान्य पढा–लिखा व्यक्ति उसे समझ ही नहीं सकता। क्योंकि यह गणित जैसे विषय पर उच्चकोटि के विद्वानों के लिए लिखी गई है। लेकिन रसेल जब सामाजिक, राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक विषयों पर अपनी कलम चलाते हैं तो उनकी भाषा सरल और सुबोध होती है। हाँ, उन्होंने दर्शन में भाषा की विवेचना से संबंधित जो दृष्टि अपनाई है वह अवश्य सहज और सरल न होकर वैज्ञानिक सूत्रों में ढली हुई है।

रसेल का अकादमिक परिवेश पूरी तरह तर्क और गणित से आच्छादित है। उनकी कृति, 'प्रोब्लम्स ऑफ फिलोसोफी' में इसे स्पष्ट देखा जा सकता है। यहाँ सामान्य बुद्धि के लिए कोई स्थान नहीं है। रसेल की तलाश वस्तुतः असंदिग्ध ज्ञान की तलाश है। उनका विश्वास मोटे तौर पर, या कुल मिलाकर, जो विश्वसनीय हो उस पर नहीं है। बल्कि उनके अनुसार ज्ञान वह है जो संदेह के बिलकुल परे हो। इस मायने में वह बहुत कुछ डेकार्ट की तरह है। डेकार्ट की तरह ही वहउस असंदिग्ध ज्ञान तक पहुँचना चाहते हैं जहां संदेह और अविश्वास के लिए कोई गुंजाइश न रहे। उन्हें इस तरह की असंदिग्ध प्रतिज्ञप्तियाँ 'साक्षातज्ञान' (Knowledge by acquaintance) में प्राप्त हुईं। यहाँ यह भी नोट करना जरूरी है कि मूर जिसे 'इन्द्रियप्रदत्त' कहते हैं कमोबेश उसी को रसेल ने 'साक्षातज्ञान' कहा है ।

दर्शन के अपने आरंभिक दौर में रसेल पर मूर का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है किन्तु जैसे–जैसे समय बीतता गया और उनका चिंतन आगे बढ़ता गया दोनों के बीच दूरियाँ भी बढ़ती चली गईं। रसेल धीरे धीरे दर्शन की उस परम्परा के समर्थक बनते चले गए जो दर्शन को विज्ञान से जोड़ कर उसे 'विज्ञानों का विज्ञान' कहने में नहीं हिचकता। लेकिन मूर को किसी भी दार्शनिक परम्परा से जोड़ना नामुमकिन है। वह हर प्रकार के प्रभाव से मुक्त दिखाई देते हैं। शायद इसीलिए उन्हें *'दार्शनिकों का दार्शनिक'* कहा गया है ।

मूर की तरह रसेल भी बेशक काल्पनिक समीकरणों की आलोचना तो करते हैं (जैसे जगत को वास्तविकता का केवल आभास मात्र बताया जाना) किन्तु उदात्त कल्पनाएँ उन्हें लुभाती भी कम नहीं हैं। उदाहरण के लिए वह अपने आरंभिक एक ग्रन्थ, *'क्रिटिकल एक्स्पोसिशन ऑफ द फिलोसोफी ऑफ लाइबनिट्ज'* में लाइबनित्ज के भौतिकशास्त्र को दर्शन से कटा हुआ न मानकर, एक ऐसे शास्त्र के रूप में देखते हैं जो दर्शन का निर्वाहक हो। जबकि वस्तुतः लाइबनिट्ज ने जगत का एक अत्यंत काल्पनिक चित्र ही प्रस्तुत किया है। लाइबनिट्स के अपने अध्ययन में रसेल ने जिस एक और बात की प्रशंसा की है वह प्रतिज्ञप्तियों के विश्लेषण से सम्बंधित है। लाइबनिट्ज का कथन है कि हम सभी प्रतिज्ञप्तियों को उद्देश्य और विधेय के आकार में विभाजित कर सकते हैं, यानी संबंधों को भी पदों की विशेषताओं के रूप में देखा जा सकता है (जिनसे वे परस्पर बंधे हैं)। यदि हम इस प्रकार संबंधों को पदों की विशेषताओं के रूप में नहीं देख पाते तो हमारे पास सिवा इसके कि हम ब्रेडले की शरण में जावें और कोई रास्ता नहीं बचता। लाइबनिट्ज के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए रसेल कहते हैंकि सभी सही दर्शन प्रतिज्ञप्तियों के विश्लेषण से आरम्भ होना चाहिए। यहाँ यह नोट करने लायक बात है कि मूर ने भी अवधारणाओं के विश्लेषण पर बहुत भरोसा दिखाया है (उदाहरण के लिए उनका नीतिशास्त्र में 'शुभ' का विश्लेषण)। इस प्रकार हम पाते हैं की लाइबनिट्ज, मूर और रसेल, इन तीनों ने ही, जिसे आज हम दार्शनिक विश्लेषण कहते हैं : काफी कुछ स्वीकार किया है किन्तु इनमें से किसी ने विश्लेषण को दर्शन के एक मात्र कार्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जैसा कि आज कई दार्शनिक मानते हैं।

3.4 – रसेल का साक्षात ज्ञान और जी0ई0 मूर

यद्यपि रसेल कुल मिलाकर मूर की इस बात से सहमत थे कि हमारी सामान्य–बुद्धि इस बारे में पूरी तरह आश्वस्त ह कि हमसे अलग एक जगत और भी है जो हमारे आत्मिक स्वभाव का नहीं है, बल्कि भौतिक है। लेकिन क्या जो हम देखते हैं, जैसे एक मेज पर रखी एक किताब, उसे हम प्रत्यक्षतः या साक्षात देख पाते हैं? वस्तुतः हम जो देखते हैं वह किताब नहीं देखते बल्कि उस पुस्तक की लम्बाई–चौडाई, उसका आकार, उसकी मोटाई आदि गुणों को देखते हैं। ये ही हमारे इन्द्रिय–प्रदत्त हैं। इन्हीं को साक्षात देख पातेहैं। किताब के इन गुणों को देख कर किताब के अस्तित्व का तो हम केवल अंदाज या अनुमान लगाते हैं। रसेल ने इसी सूत्र को आगे बढ़ाते हुए साक्षात ज्ञान और वर्णन–ज्ञान ('knowledge by acquaintance' and 'knowledge by description") मेंअंतरकिया। रसेल का साक्षात ज्ञान बहुत कुछ मूर के इन्द्रिय–प्रदत्त ही हैं।

इन्द्रिय–प्रदत्त जिनका कि हमें साक्षात ज्ञान होता है न तो लॉक के गौण गुणों की तरह आत्मनिष्ठ या मानसिक हैं और नही वे प्रत्यक्षीकरण के पहले की अपरिभाष्य मानसिक अवस्थाएं हैं जिन्हें मनोविज्ञान

की भाषा में संवेदना (Sensetion) कहा गया है। ये पूरी तरह से जैसा कि मूर ने माना है गैर–मानसिक हैं। ये भौतिक वस्तुओं के भौतिक गुण हैं जिनका कि हम साक्षात प्रत्यक्ष करते हैं और एक बार यदि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि इन्द्रिय–प्रदत्त गैर–मानसिक हैं तो हमें जगत की सारी वस्तुएं जिन्हें हम देख पातेहैं। (संवेदी–विषय) के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने में भी कोई कठिनाई नहीं होगी। जिन चिंतकों ने इन्द्रिय–प्रदत्तों को वस्तुगत न मानकर आत्म निष्ठमाना है उनका मुख्य तर्क यही है कि एक ही व्यक्ति हर बार अलग–अलग तरह के गुणों को देखता है। कभी उसे किताब गोल दिखाई देती है तो कभी चपटी। इत्यादि। इस तथाकथित असंगति और गैर–निरंतरता को कैसे व्याख्यायित किया जाए? रसेल और मूर दोनों ने ही इसे देश–काल और परिस्थितियों की भिन्नता द्वारा व्याख्यायित किया है।

बहरहाल इस समय हम जिस बात पर बल देना चाहते हैं वह यह है कि रसेल को साक्षात–ज्ञान और वर्णन–ज्ञान में अंतर करने का जो विचार सूझा उसके पीछे मूर की इन्द्रिय–प्रदत्त की अवधारणा ही थी।

3.5 – सारांश

रसेल के विचारों को मूर्तमान करने में, कम से कम उनकी आरंभिक सोच को सुनिश्चित करने में एक ओर उनके पारिवारिक वातावरण और दूसरी ओर उन पर जीई मूर के वृहद् प्रभाव का बड़ा हाथ रहा है। मूर की परिवरिश उनकी दादी के कड़े संरक्षण में हुई। बचपन में उन्हें चर्च ले जाया जाता था और वहां भी कठिन अनुशासन का वातावरण उन्हें खलता था। शायद इसी का परिणाम था कि बर्ट्रेंड रसेल बाद में वैयक्तिक स्वतंत्रता के जबरदस्त हिमायती बन गए। स्वत्रन्त्रता के इस मूल्य को उनके वैयक्तिक जीवन में तो क्रियान्वन होते हुए तो देखा ही जा सकता है, उनके दार्शनिक, सामाजिक और राजनैतिक विचारों में भी यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित है।

बर्ट्रेंड रसेल के आरंभिक दार्शनिक विचारों पर जीईमूर का प्रभाव भी उल्लेखनीय है। जीई मूर का निबंध, 'प्रत्ययवाद का खंडन' उन्हें प्रत्ययवाद के आकर्षण से न केवल बाहर ला सका वरन वास्तववाद की ओर भी उन्मुख कर सका। इतना ही नहीं उनके प्रसिद्ध साक्षात ज्ञान और वर्णन–ज्ञान के अंतर के सिद्धांत को भी वस्तुतः मूर की इन्द्रिय–प्रदत्त की अवधारणा से ही बल मिला।

3.6 – शब्दावली

1. साक्षात ज्ञान	– Knowledge by Acquaintance
2. वर्णन ज्ञान	–Knowledge by Description
3. वंशानुक्रम	–Heredity
4. परिवेश	- okrkoj.k – Environment
5. "फैलो"	–Fellow
6. शांतिवाद / शांतिवादी	–Pacifist / Pacifism
7. अपमान– / निन्दा	–Condemnation
8. तकनीकी भाषा	–Technical Language
9. साधारण भाषा	–Ordinary language

10. वैज्ञानिक परिकल्पना – Scientific language

11. दार्शनिकों का दार्शनिक – Philosopher of philosophers

12. विज्ञानों का विज्ञान – science of sciences

3.7 – प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रसेल पर उनके पारिवारिक परिवेश का क्या असर पडा और इससे उनका चिंतन किस तरह प्रभावित हुआ? स्पष्ट कीजिए ।
2. रसेल के आरंभिक दर्शन पर जी ई मूर के प्रभाव को सुनिश्चित कीजिए ।
3. रसेल द्वारा निर्मित साक्षात–ज्ञान और वर्णन–ज्ञान का अंतर जी ई मूर की किस धारणा से प्रभावित लगता है ? स्पष्ट कीजिए ।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए –

1. बर्ट्रेंड रसेल के चिंतन पर उनके पारिवारिक परिवेश का प्रभाव ।
2. रसेल के आरंभिक विचारों पर जी ई मूर का प्रभाव ।
3. मूर की इन्द्रिय–प्रदत्त की धारणा और रसेल का साक्षात–ज्ञान ।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न –

निम्नलिखित कथनों की सत्यता के अनुसार उनको 'सही' या 'गलत' चिह्नित कीजिए –––

1. रसेल ने स्वतंत्रता के मूल्य के महत्त्व को अपने पारिवारिक अनुशासन से ग्रहण किया। (सही / गलत)
2. मूर के प्रत्ययवाद के खंडन ने रसेल को प्रत्ययवाद का समर्थक बना दिया। (सही / गलत)
3. इन्द्रिय–प्रदत्त रसेल के साक्षात–ज्ञान का आधार कहे जा सकते हैं । (सही / गलत)

3.8 पाठ्य सामग्री

1. डा. सुरेन्द्र वर्मा : पाश्चात्य दर्शन की समकालीन प्रवृत्तियाँ, भोपाल।
2. Schilpp P A – The Philosophy of Bertrand Russell , 1951
3. The Encyclopedia of Philosophy (ed- Paul Edwards) New York,1967

खंड–2 बर्ट्रेंड रसेल

इकाई–4वर्णन सिद्धांत

इकाई 4 की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्राक्कथन

4.2 साक्षात–ज्ञान

4.3 ज्ञान का वर्णन सिद्धान्त

4.4 रसेल का आरंभिक वस्तुवाद

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.4 प्रश्नावली

4.8 पाठ्य पुस्तकें

....

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य मुख्यतः बर्ट्रेंड रसेल की ज्ञान–मीमांसा में साक्षात–ज्ञान और वर्णन–ज्ञान के अंतर को समझना है उनका साक्षात–ज्ञान बहुत–कुछ मूर के इन्द्रिय–प्रदत्तों के समान है और वर्णन–ज्ञान इसी तरह मूर के अनुमिति–ज्ञान की भाँति है किन्तु रसेल ने अपने साक्षात और वर्णन–ज्ञान में काफी कुछ विस्तार किया। इस विस्तार को प्रस्तुत इकाई में विस्तार से बताया गया है।

रसेल द्वारा किया गया साक्षात और वर्णन ज्ञान का अंतर केवल उनके आरंभिक वस्तुवाद तक ही सीमित रहा और वह शीघ्र ही इसकी सीमाएं समझाने लगे उन्होंने प्रत्ययवाद के अति उत्साहित विरोध में संख्या, सामान्य और भौतिक वस्तुओं को तो गैर–मानसिक घोषित कर ही दिया था, वह साथ ही यह तक मानने लगे थे कि किसी भी वाक्य में केवल संज्ञावादी पद ही सम्बंधित वस्तुओं की ओर संकेत नहीं करते बल्कि वाक्य में प्रयुक्त अन्य पदों का भी, जो संज्ञावाचक

नहीं हैं, कोई न कोई वस्तुगत विषय होना चाहिए द्य उनके आरंभिक वस्तुवाद की यही बड़ी कमी थी।

4.1 प्राक्कथन –

बर्ट्रेंड रसेल के आरंभिक वस्तुवादी दृष्टिकोण में साक्षात–ज्ञान और वर्णन ज्ञान के बीच जो अंतर निर्मित किया गया है वह बहुत महत्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि यह अंतर सर्व–प्रथम रसेल ने ही मौलिक रूप से सोचा हो, रसेल से पहले उन्नीसवीं शताब्दी में कम से कम दो जर्मन दार्शनिकों ने इसी–प्रकार का भेद किया था। और जी ई मूर तो रसेल के समकालीन ही थे जिनसे निश्चित रूप से प्रभावित होकर रसेल ने साक्षात और वर्णन ज्ञान के अंतर को काफी विस्तार से सुनिश्चित किया। मोटे तौर पर रसेल के अनुसार साक्षात–ज्ञान के अंतर्गत वे सभी विषय आ जाते हैं जो हमारी चेतना में प्रत्यक्षतरू होते हैं और जिनसे हम साक्षात अवगत रहते हैं। इसी प्रकार वे सारे विषय जिनसे हम प्रत्यक्षतः अवगत नहीं होते बल्कि किसी माध्यम द्वारा अवगत होते हैं, जैसे अनुमान, स्मृति या किसी अन्य व्यक्ति का साक्ष्य, आदि ऐसे सारे विषय वर्णन ज्ञान के अंतर्गत आते है। रसेल ने प्रत्ययवाद के विरोध के अपने अति–उत्साह में सामान्य (यूनिवर्सल्स), वस्तुओं के बीच सम्बन्ध आदि को भी साक्षात–ज्ञान के अंतर्गत रखकर उन्हें भी वस्तुनिष्ठ बना दिया। रसेल कुल मिलाकर यह भी स्वीकार करते हैः कि किसी भी प्रतिज्ञप्ति में जो संज्ञा–वाचकपद हैं वे तो वस्तुगत विषयों की ओर संकेत करते ही हैं, वे पद जो संज्ञा–वाचक नहीं हैं और संबंधों, सामान्यों आदि, को बताते हैं (वह, से, ऊपर, नीचे, है, आदि) भी वस्तुनिष्ठ हैं। रसेल का यह अति–उत्साहित वस्तुवाद अपने ही बोझा से टिक नहीं पाया।

4.2 साक्षात ज्ञान –

बर्ट्रेंड रसेल ने अपने ज्ञानमीमान्सात्मक अधिगमन (Aproach) को स्पष्ट करने के लिए दो प्रकार के ज्ञान में स्पष्ट भेद किया। उनके अनुसार एक प्रकार का ज्ञान साक्षात–ज्ञान (Knowledge by acquaintance)है औरदूसरे प्रकार का ज्ञान साक्षात न होकर, जिसे वह वर्णन–ज्ञान (Knowledge by description)कहते हैं, होता है। साक्षात–ज्ञान मूलभूत ज्ञान है। यह वह आधारभूत ज्ञान है जिससे हम प्रत्यक्षतः अवगत होते हैं। वर्णन–ज्ञान हमें प्रत्यक्षतः प्राप्त नहीं होता। इसका हम अनुमान लगाते हैं। यह अनुमिति–ज्ञान (Knowledge by inference) कहा जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि बर्ट्रेंड रसेल कोई पहले चिन्तक थे कि जिन्होंने ज्ञान के दो प्रकारों में इस तरह भेद किया। जी ई मूर जो रसेल के न केवल समकालीन थे बल्कि उनके दार्शनिक मित्र भी थे इस तरह का भेद, जैसा कि हम पिछली इकाई में देख आए हैं, इन्द्रिय–प्रदत्तों और भौतिक वस्तु के अस्तित्व को लेकर कर आए हैं। इन्द्रिय प्रदत्तों की अनुभूति हम साक्षात करते हैं जबकि भौतिक वस्तुओं का हम केवल अनुमान भर लगाते हैं। लेकिन मूर से भी पहले 1825 में ग्रोटे (Grote) और 1868 में जर्मन दार्शनिक हेल्म्होट्स (Helmholtz) भी ज्ञान के मिलते जुलते ऐसे ही दो प्रकार बता

चुके हैं। ग्रोटे ने भी साक्षात–ज्ञान जिसे उन्होंने (Knowledge of acquaintance) कहा और "इस्ततः–ज्ञान" (Knowledge about) में अंतर किया। रसेल ने ग्रोटे के पद "नोलेज 'ऑफ' अकुन्टेन्स" को "नोलेज 'बाई' अकुन्टेन्स" कह कर बेशक एक बेहतर पद इस्तेमाल किया। जर्मन दार्शनिक, हेल्होल्त्ज ने ऐसे ज्ञान जो हमें किसी बात से केवल अवगत कराता है और ऐसे ज्ञान जिसे शब्दों में बताया जा सकता है, इन दोनों में अंतर किया। पहले प्रकार का ज्ञान बेशक अधिक सुनिश्चित ज्ञान है किन्तु उसे हम भाषागत अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर सकते (उसे केवल प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है) जब कि दूसरे प्रकार का ज्ञान को हम शब्दों में व्यक्त तो कर सकते हैं लेकिन वह पहले वाले की तरह उतना सुनिश्चित और असंदिग्ध नहीं होता। बाद में विलियम जेम्स ने ग्रोटे और हेल्म्होत्ज ने ज्ञान के जिन दो प्रकारों में अंतर किया था उसे और अधिक विकसित और समृद्ध किया। अस्तु।

साक्षात–ज्ञान, जिसे बर्ट्रेंड रसेल ने *Knowledge by acquaintance*कहा है, वह ज्ञान है जिससे हम प्रत्यक्षतः अवगत होते हैं। जिसको हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ बिना किसी अन्य माध्यम की सहायता से, (जैसे अनुमान, स्मृति या साक्ष्य आदि से) प्राप्त नहीं करते। इस अर्थ में सबसे पहले हमारा साक्षात–ज्ञान में इन्द्रिय–प्रदत्त आते हैं। इन्द्रिय–प्रदत्तों का हमें प्रत्यक्षतः ज्ञान होता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी टेबल को देखते हैं तो वस्तुतरू हम 'टेबल' को नहीं देखते। हम उसके गुणों को, उसकी लम्बाई, चौडाई, मोटाई आदि देखते हैं क्योंकि देखने के लिए हमें इन्हीं 'दत्तों' को प्रदान किया गया है। वे ही इन्द्रिय–प्रदत्त हैं। सर्व प्रथम इन्द्रिय–प्रदत्त ही हमारी चेतना में आते हैं। उन्हीं से हम अवगत हो पाते हैं।

लेकिन बर्टेंड रसेल इन्द्रिय–प्रदत्तों पर ही रुक नहीं गए। इन्द्रियदृदत्त के अलावा भी उन्होंने कई अन्य विषयों को भी साक्षात–ज्ञान के अंतर्गत सम्मिलित किया। थोड़े हिचक के साथ उन्होंने स्वीकार किया कि कोई भी व्यक्ति स्वयं अपना भी साक्षात–ज्ञान प्राप्त करता है। (तुलना करें, "कोजितो–एर्गो–सम", डेकार्ट) इतना ही नहीं, अपने विचारों और प्रत्ययों से भी वह प्रत्यक्षतरू अवगत रहता है। वे साक्षात उसकी चेतना में होते है। हालांकि दूसरे लोग हमारे मन को प्रत्यक्षतः नहीं जान सकते। अन्य लोग हमारे व्यवहार द्वारा हमारे मन के विषय में अप्रत्यक्ष रूप से ही जान पाते हैं। यह साक्षात–ज्ञान नहीं होता।

हमारी मानसिक भावनाओं का भी हमें साक्षात–ज्ञान होता है। हम अपनी उंगली के दर्द से प्रत्यक्षतः अवगत होते हैं। हम इसका अनुमान नहीं लगाते। उंगली से खून टपकता देखकर हम यह अनुमान नहीं लगाते कि हमारी उंगली में दर्द है। दर्द से हमारा साबका साक्षात होता है। दर्द से अवगत होने के लिए हमें किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। यही बात अन्य भावनाओं के लिए भी कही जा सकती है। जब जब अपनी भावनाओं से मेरा संपर्क प्रत्यक्षतः होता है, तो वे सभी भावनाएं साक्षात–ज्ञान के अंतर्गत आ जाती हैं।

रसेल यह भी मानते हैं कि हम सामान्य–प्रत्यय (Universals), जैसे 'पहले' और 'बाद'की चेतना, सफेदी या कालोंच, विविधता इत्यादि, से भी बिना किसी माध्यम के प्रत्यक्षतरू अवगत हैं। वे हमारी चेतना में साक्षात रूप से विराजमान रहते हैं। हम जब एक इन्द्रिय दत्त को दूसरे से पहले या बाद में देखते, अनुभव करते हैं तो हमारी चेतना में 'पहले' और 'बाद' के सामान्य–प्रत्यय विद्यमान रहते है, इनसे हम अवगत हैं। इन्हें जानने के लिए हमें किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती।

रसेल इसीलिए कहते हैं कि बिना किसी माध्यम के जब किसी विषय से हम प्रत्यक्षतः अवगत होते हैं तो यह साक्षात–ज्ञान है। साक्षात–ज्ञान केवल उन विषयों का ही संभव होता है जिन तक हमारी प्रत्यक्ष पहुँच है, जो हमारी चेतना में बिना किसी माध्यम के आ जाते हैं। जिनका अनुभव हमें साक्षात प्राप्त है।

4.3 ज्ञान का वर्णन सिद्धांत–

यदि साक्षात ज्ञान हमें प्रत्यक्षतरू, बिना किसी माध्यम के प्राप्त होता है तो रसेल जिसे वर्णन–ज्ञान कहते हैं हमें वह किसी न किसी माध्यम से ही प्राप्त होता है और तभी हम उसका वर्णन कर सकते हैं द्य यह ज्ञान हमें प्रदत्त नहीं है द्य हमें इसका अनुमान लगाना पड़ता है, या इसे हम अपनी स्मृति से इसे जान पाते हैं अथवा किसी व्यक्ति के साक्ष्य पर निर्भर करना पड़ता है। इसीलिए यह अप्रत्यक्ष ज्ञान है। हम पुनरू अपने टेबल के अनुभव का उदाहरण ले सकते हैं द्य सामने राखी टेबल हमारी चेतना में प्रत्यक्षतरू नहीं आती। प्रत्यक्षतः हम केवल उसके गुणों का ही अनुभव करते हैं –उसकी लम्बाई, चौड़ाई आदि। किन्तु इन गुगों के आधार पर हम टेबल के अस्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं। यह ज्ञान हमें अनुमान से मिला। इससे हम साक्षात अवगत नहीं हो सके। अनुमान से मिले इस ज्ञान का हम वर्णन बेशक कर सकते हैं कि यह टेबल काफी लम्बी–चौड़ी है, इत्यादि। जब भी हम किसी विषय के गुणों के वर्णन द्वारा उसके बारे में जान पाते हैं या किसी अन्य व्यक्ति को बताते हैं तो यह साक्षात ज्ञान न होकर वर्णन–ज्ञान है।

परिभाषाएं और नाम – परिभाषाएं दो प्रकार की होती हैं। यदि हम किसी का नाम लेकर पूछें कि वह क्या है? तो हम उस विषय की ओर संकेत करते हुए कहेंगे कि वह, यह है। जैसे कोई हमसे पूछे कि कुरसी क्या है तो हम किसी कुरसी की ओर संकेत करके कह सकते हैं कि कुरसी यह है। इस परिभाषा में कुरसी का हमें साक्षात ज्ञान प्राप्त होता है। लेकिन यदि कोई हमसे पूछे कि तुलसीदास कौन हैं और हम उसे बताएं कि तुलसीदास रामचरित मानस के रचयिता हैं तो हमें यहाँ तुलसीदास का साक्षात ज्ञान नहीं होता। यह केवल वर्णन–ज्ञान है। हमने तुलसीदास को प्रत्यक्षतरू कभी नहीं देखा। निर्देशात्मक परिभाषा का सम्बन्ध उस विशेष नाम से है जिसकी ओर संकेत किया गया है। लेकिन तुलसीदास की वर्णनात्मक परिभाषा किसी ऐसेविशेष तुलसीदास के बारे में नहीं है जिसे कभी किसी ने साक्षात देखा हो।

जिन लोगों से हम साधारण अर्थ में परिचित नहीं होते, जैसे जुलियस सीजर जिसने रूबीकोन को पार किया. उन्हें हम वर्णन द्वारा जानते हैं। रसेल के अनुसार जुलियस सीजर यहाँ

एक वर्णन है, यह एक नाम नहीं है जिसका वर्णन किया जा रहा है। प्रथम दृष्टि में यह एक बड़ा अजीब सा सिद्धांत लगता है। लेकिन रसेल कहते हैं कि वस्तुतरू हम किसी भी ऐसी चीज के बारे में बात नहीं कर सकते जो हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में आने से बाहर हो। अतः यह प्रतिज्ञप्ति, "जुलियस सीजर जिसने रूबीकोन को पार किया", जुलियस सीजर के बारे में नहीं हो सकती भले ही व्याकरण की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता हो। रसेल कहते हैं कि हर प्रतिज्ञप्ति जिसको हम समझ सकते हैं उन्हीं तत्वों के संघटन से निर्मित होनी चाहिए जिनसे हम साक्षात अवगत हों। लेकिन जुलियस सीजर के बारे में ऐसा नहीं है। जुलियस सीजर यहाँ व्यक्ति वाचक नाम न होकर केवल वर्णन है। जुलियस सीजर इस वाक्य में एक सहज प्रतीक नहीं है।यह इन्द्रिय–प्रदत्तों या सामान्यों (यूनीवर्सल्स) पर आश्रित होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है। जुलियस सीजर यहाँ व्यक्तिगत नाम न होकर केवल एक वर्णन है। यहाँ जुलियस सीजर को हम इन्द्रिय–प्रदत्तों के द्वारा नहीं जानते बल्कि वर्णन से अप्रत्यक्ष रूप से जानते हैं जुलियस सीजर यहाँ केवल वर्णन–मात्र है।

रसेल के अनुसार कोई भी नाम तब तक सार्थक नहीं होता जब तक वह किसी वस्तु या व्यक्ति का न हो, जबतक हम उसके इन्द्रिय–प्रदत्तों से अवगत न हों। हम इस वाक्य को लें, "स्काट वेवर्ली का लेखक था", इसमें वेवर्ली का लेखक एक वर्णनात्मक वाक्यांश है। हम इसे निर्देशानात्मक नहीं कह सकते। यदि हम यह मान लें कि यह 'स्काट' को निर्दिष्ट करता है तो ऐसी स्थिति में यह वाक्य "स्काट स्काट था' –ऐसा हो जाएगा। यह पुनरोक्ति होगी। यदि स्काट वेवर्ली का लेखक नहीं है तो यह 'स्काट स्काट नहीं था' –ऐसा हो जाएगा। यह वदतोव्याघात (Self-contradiction) होगा। लेकिन कोई भी यह जानता है कि 'स्काट वेवर्ली का लेखक था', यह न तो पुनारोक्ति है न वदतोव्याघात। रसेल इसलिए 'वेवर्ली का लेखक' वाक्यांश को केवल वर्णनात्मक कहते हैं, निर्देशानात्मक नहीं। यह एक पूर्ण प्रतीक न होकर अपूर्ण प्रतीक (Incomplete symbol) है। इसकी सार्थकता वाक्य के सन्दर्भ द्वारा निर्धारित हुई है।

रसेल इस प्रकार यह मानते हैं कि कई विषय ऐसे हैं जो हमारे साक्षात–ज्ञान में नहीं होते। हम उन्हें ऐसे विषयों के रूप में जानते हैं जिन पर कोई वर्णन आरोपित किया गया है। ऐसे वर्णनात्मक–ज्ञान में सर्वप्रथम भौतिक वस्तुएंआती हैं जैसे कुरसी, मेज इत्यादि। उन्हें हम केवल अंदाज से – अनुमान से –जानते हैं। हम केवल इनके इन्द्रिय–प्रदत्त प्रत्यक्षतः जानते हैं और उन्हीं से इनके बारे में अनुमान लगाते हैं। इसी तरह "सामान्य" हैं, जैसे मनुष्य–जाति। ये भी ठीक भौतिक वस्तुओं की तरह हैं। इन्द्रिय–दत्तों से अनुमानित। इस कोटि में वे लोग भी आते हैं जिनसे हम साधारण अर्थ में परिचित नहीं हैं जैसे तुलसीदास, जुलियस सीजर या स्काट। हम इन्हें भी वर्णन द्वारा ही जानते हैं। ये नाम केवल वर्णन हैं। इन को हमने इन्द्रिय–दत्तों से प्रत्यक्षतः प्राप्त नहीं किया है।

4.4 रसेल का आरंभिक वस्तुवाद

कुछ समय तक प्रत्ययवाद के प्रभामंडल में रहने के बाद रसेल शीघ्र ही इसके बड़े आलोचक हो गए उनका आरंभिक दर्शन इस प्रकार निरपेक्ष प्रत्ययवाद, जो उन दिनों इंग्लैंड में अत्यंत प्रभावशाली था, के विरुद्ध एक जबरदस्त प्रतिक्रिया थी।

रसेल ने बर्कले के आन्तरिक संबंधों के सिद्धांत को ध्वस्त करके उनके दर्शन को अप्रासंगिक बना दिया द्य इस सिद्धांत के अनुसार क्योंकि हर चीज, हर अन्य वस्तु से किसी न किसी प्रकार से आतंरिक रूप से सम्बंधित है, इसलिए हर चीज, किसी न किसी तरह अन्य वस्तुओं में प्रवेश कर जाती है, अतरू यह कहा जा सकता है कि यदि कोई भी वस्तु वास्तव में है तो वह एक सर्वसमाहित साकल्य है, परम (Absolute) है।

रसेल ने आतंरिक संबंधों के सिद्धांत को ही कि जिसके आधार पर परम की कल्पना की गई थी, अस्वीकार किया।रसेल का मत है कि जिस प्रकार हम अपने अनुभव में स्वतन्त्र वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उसी तरह हम उनके बीच सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष करते हैं, जो उन वस्तुओं से स्वतन्त्र होता है।यदि सम्बन्ध अपने पदों से स्वतन्त्र न हो तो वे उनके 'अन्दर' होने के कारण एक दूसरे में प्रवेश कर जावेंगे।ऐसे में गणित तो असंभव ही हो जाएगा। गणित में तो हमे, इससे पहले कि हम उनका सम्बन्ध अन्य इकाइयों के बारे में समझें, स्वयं इकाइयों के बारे में जानकारी जरूरी है।अतरू रसेल वाह्य संबंधों के सिद्धांत का पक्ष लेते हैं जिसके अनुसार संबंधों की वास्तविकता को उन पदों की वास्तविकता से कि जिन्हें वे सम्बंधित करते हैं, स्वतन्त्र माना गया है।

प्रत्यत्यवाद के प्रभामंडल से मुक्त होकर रसेल आरम्भ में बहुत उत्साहित थे द्य उन्होंने उन सभी विषयों को वस्तुगत रूप से वास्तविक स्वीकार कर लिया जिन्हें प्रत्ययवादी पूरी तरह अवास्तविक प्रमाणित करने में सफल नहीं हुए थे। 'संख्या', 'देश–बिंदु' (Point of space)'सामान्य', और संवेद्य–विषय (Sensibili) दृसभी को रसेल ने स्वतन्त्र अस्तित्व दे डाला। उनके इस अतिवादी वस्तुवाद को अर्थ के उस निर्देशात्मक (referential) सिद्धांत से भी बल मिला जिसके अनुसार यदि एक भाषाई अभिव्यक्ति अर्थवान है तो कुछ न कुछ ऐसा अवश्य होना चाहिए कि जिसकी ओर वह निर्दिष्ट करती है ।

रसेल अपने इस वैचारिक दौर में यह मानने लगे थे कि किसी भी वाक्य में केवल संज्ञावादी शब्द ही वस्तुगत निर्दृष्टों की ओर संकेत नहीं करते बल्कि सम्बंधवाची पद, क्रियावाची पद, इत्यादि के भी अपने निर्दृष्ट (referent) होते हैं। इस प्रकार यदि हम यह कहें कि 'यह कार गैरेज में है', तो यहाँ न केवल कार और गैरेज शब्दों के अनुरूप उनके विषय होने चाहिए बल्कि 'यह', 'में' ,'है' आदि पदों का भी कोई न कोई निर्दृष्ट होना चाहिए ।

रसेल का यह नितांत अतिवादी वस्तुवाद बहुत समय तक कायम नहीं रह सका। फिर भी अर्थ का निर्देशात्मक सिद्धांत किसी न कसी रूप में उनके दर्शन से कभी भी पूरी तरह से विलग

नहीं हुआ द्य इसी तरह उन्होंने अपने आरंभिक वस्तुवाद के दौर में जो विश्लेषण के लिए निष्ठा प्रदर्शित की थी वह भी अंत तक उनके दर्शन में देखी जा सकती है। उनके अनुसार दर्शन के लिए एक मात्र उपयोगी विधि 'विश्लेषण की विधि' ही है। वह कहते हैं कि यदि यह संभव है कि हम किसी भी समग्रता के अनुभागों को साकल्य में उनका निश्चित स्थान जाने बिना ही, समझ सकते हैं तो यह भी संभव है कि हम किसी जटिल वस्तु को उसके भागों में विश्लेषित कर यह बता सकें कि वे किस प्रकार से सम्बंधित होकर साकल्य का निर्माण करते हैं।

प्रत्ययवादी दर्शन में ऐसा संभव नहीं था। रसेल के अनुसार तो जब तक हम किसी भाग के बारे में यह जान न लें कि यह समग्रता में किस प्रकार, किस तरह विद्यमान है, हम विश्लेषण आरम्भ कर ही नहीं सकते यानी, विश्लेषण आरम्भ करने से पहले हमें "साकल्य" के बारे में सब कुछ जान लेना होगा जो संभव नहीं है।

4.5. सारांश –

बर्ट्रेंड रसेल दो प्रकार के ज्ञान में अंतर करते हैं – साक्षात–ज्ञान और वर्णन–ज्ञान। वे विषय जिनसे हम प्रात्यक्षतरू अवगत होते हैं, साक्षात–ज्ञान के अंतर्गत आते हैं। ऐसे विषयों में सर्वप्रथम इन्द्रिय–प्रदत्त हैं। अर्थात वस्तुओं के वे गुण हैं जैसे लम्बाई,चौडाई, आदि, जिन्हे हम प्रत्यक्षतरू 'देख' पाते हैं। रसेल थोड़ी हिचक के साथ कहते हैं कि आत्म–ज्ञान भी साक्षात–ज्ञान ही है क्योंकि उसके प्रति हम साक्षात अवगत रहते हैं। हमारे मन के विचार और प्रत्यय भी हमारी चेतना के विषय होने से साक्षात ज्ञान के अंतर्गत माने जाने चाहिए। हम अपनी सुख–दुःख आदि भावनाओं से भी बिन किसी माध्यम के अवगत होते हैं। वे भी साक्षात ज्ञान में ही आ जाती हैद्य इतना ही नहीं, बर्ट्रेंड रसेल समान्य (प्रत्ययों) – 'यूनीवर्सल्स' को भी साक्षात ज्ञान का विषय मानते हैं वे सारे विषय जिनके अस्तित्व का हम अप्रत्यक्ष रूप से अनुमान लगाते हैं और जिनका अपने अनुमान के हिसाब से वर्णन करते हैं, रसेल के अनुसार वर्णन–ज्ञान के अंतर्गत आते हैं। इनमें सर्वप्रथम वे सारे संवेद्य– विषय हैं जिनके अस्तित्व का अनुमान हम उनके गुणों (इन्द्रिय–प्रदत्तों) से लगाते हैं ।

नाम दो प्रकार के हो सकते हैं दृ एक वे नाम जिनके विषय की ओर हम निर्दृष्ट कर सकते हैं। जैसे हम पूछें कि टेबल क्या है तो हम टेबल को निर्दृष्ट कर बता सकते हैं कि "यह" है। लेकिन कुछ नाम ऐसे होते हैं कि जिनकी ओर हम निर्दृष्ट नहीं कर सकते। जैसे हम पूछें कि तुलसीदास कौन हैं? तो तुलसीदास की ओर निर्दृष्ट नहीं किया जा सकता। पर कह सकता है कि तुलसीदास रामचरितमानस के लेखक है। यहाँ हम अनुमान द्वारा तुलसीदास का वर्णन मात्र कर रहे हैं। यहाँ तुलसीदास तुलसीदास नहीं हैं जिन्हें हम साक्षात जानते हों। तुलसीदास यहाँ वस्तुतः व्यक्तिवाचक नाम है ही नहीं। यहाँ तुलसीदास रामचरितमानस का लेखक है। यहाँ हम रामचरित मानस का लेखक कहें या तुलसीदास बात एक ही है। यहाँ नाम तुलसीदास व्यक्ति तुलसीदास की ओर निर्दृष्ट नहीं करता। यह नाम व्याकरण तक सीमित है। वास्तविक नहीं है। यह एक अपूर्ण

प्रतीक है जो किसी विषय को निर्दृष्ट नहीं करता। रसेल कहते हैं कि ऐसे नामों को हम केवल वर्णन द्वारा जानते हैं द्य उनसे साक्षात अवगत नहीं हो सकते।

आरम्भ में रसेल अपने अतिवादी वस्तुवाद से बड़े उत्साहित थे। यहाँ तक कि वह किसी भी प्रतिज्ञप्ति में संज्ञात्मक शब्दों को ही वास्तविक वस्तुओं के प्रतीक रूप में नहीं लेते थे बल्कि यह भी सोचते थे कि प्रतिज्ञप्ति में जो गैर–संज्ञात्मक पद हैं उनके प्रतिरूप भी होना चाहिए। जैसे ऊपर, को, हूँ, है इत्यादि, लेकिन इस मोह से वह जल्दी ही मुक्ति पा गए।

4.6 शब्दावली

ज्ञान –Knowledge

साक्षात–ज्ञान –knowledge by acquaintance (Russell)

–Knowledge of acquaintance (Grote)

वर्णन ज्ञान – knowledge by description

अनुमिति ज्ञान –knowledge by inference

इस्ततरू ज्ञान –knowledge about (Grote)

अधिगमन– approach

देश–बिंदु –points of space

सामान्य (प्रत्यय) – universals

संवेद्य विषय – sensibilia

निर्दृष्ट विषय – referents

वदतोव्याघात – self&contradiction

प्रतीक– symbol

अपूर्ण प्रतीक – incomplete symbol

परम– absolute

4.7 प्रश्नावली

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1)रसेल ने साक्षात–ज्ञान और वर्णन–ज्ञान में किस प्रकार अंतर किया है, स्पष्ट कीजिए।

(2)रसेल के अनुसार साक्षात–ज्ञान किसे कहते हैं, इसके अंतर्गत रसेल किन किन विषयों को समाहित करते हैं? व्याख्या कीजिए।

(3)रसेल के अनुसार नाम के अंतर्गत निर्देशनात्मक प्रतीक और वर्णनात्मक प्रतीक में अंतर करते हुए स्पष्ट कीजिए कि वर्णनात्मक प्रतीक को अपूर्ण–प्रतीक क्यों कहा गया है।

(4)रसेल के आरंभिक वस्तुवाद की समीक्षात्मक व्याख्या कीजिए

लघु–उत्तरीय प्रश्न

निम्न–लिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए

(1)साक्षात ज्ञान

(2)वर्णन ज्ञान

(3)प्रतीक के रूप में नाम का वर्गीकरण

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न–लिखित वाक्यों को सही–या–गलत के अनुसार चिह्नित कीजिए

(1)इन्द्रिय–प्रदत्त साक्षात–ज्ञान के उदाहरण नहीं हैं। (सही / गलत)

(2)बर्ट्रेंड रसेल ने सामान्य–प्रत्ययों (universals) को साक्षात–ज्ञान के अंतर्गत सम्मिलित किया है। (सही / गलत)

(3)आत्म–ज्ञान साक्षात–ज्ञान नहीं कहा जा सकता। (सही / गलत)

(4)वर्णनात्मक नाम अपूर्ण प्रतीक है। (सही / गलत)

(5)रसेल के आरंभिक वस्तुवाद में किसी भी प्रतिज्ञप्ति के केवल संज्ञावाचक–पद ही अपने निर्दृष्ट की ओर संकेत करते हैं।(सही / गलत)

4.8 अनुशंसित पाठ्य–सामग्री

1, डा.सुरेन्द्र वर्मा : पाश्चात्य दर्शन की समकालीन प्रवृत्तियाँ, भोपाल, 2000

2. Schilpp P A – The Philosophy of Bertrand Russell, 1953

3, The Encyclopedia of Philosophy : (Ed- Paul Edwards) New York 1967

खंड–2, बर्ट्रेंड रसेल
इकाई–5 तार्किक परमाणुवाद

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्राक्कथन

5.2 तार्किक सिद्धांत की पृष्ठभूमि

5.3 तार्किक सिद्धांत

5.4 दार्शनिक विश्लेषण तर्कीय परमाणुवाद की पृष्ठभूमि

5.5 तर्कीय परमाणुवाद

5.6 सत्यापन की समस्या

5.7 मूल्यांकन

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 प्रश्नावली

5.11 अनुशंसित पाठ्य–सामग्री

....

5.0 उद्देश्य –

इस इकाई का उद्देश्य बर्ट्रेंड रसेल के तर्कीय–रचनावाद (logical constructionism), दार्शनिक विश्लेषण और तर्कीय–परमाणुवाद (logical atomism) को समझना है। रसेल का मानना था कि जो विषय साक्षात ज्ञान के अंतर्गत नहीं आते, उनका ज्ञान अनुमान से प्राप्त कर लेना तर्क संगत नहीं है। अतः उन्होंने तर्कीय रचना का सिद्धांत प्रस्तुत किया। इस इकाई में हम सबसे पहले इसी सिद्धांत की व्याख्या करेंगे।

रसेल सत्ता को एक जटिल संघात के रूप में देखते हैं और यह मानते हैं कि इस समष्टि का सहज व्यष्टियों में विश्लेषण किया जा सकता है। यह बात भाषा और जगत, दोनों ही की संरचना के सन्दर्भ में कही जा सकती है। वह अपने विश्लेषण द्वारा, जिसे उन्होंने आकारिक विश्लेषण कहा है, भाषा

की संरचना के आधार पर जगत की संरचना को समझने का प्रयत्न करते हैं। इस इकाई में उनके इस प्रयत्न की भी व्याख्या की गई है।

अपने तर्कीय–परमाणुवाद में रसेल ने भाषा की जटिल प्रतिज्ञप्तियों का सहल प्रतिज्ञप्तियों में विश्लेषण किया है। ये सहज प्रतिज्ञप्तियाँ सहज तथ्यों से प्रत्यक्ष अवगत कराती हैं। समस्त भाषा और वास्तविकता इन्हीं सहज प्रतिज्ञप्तियों और सहज तथ्यों से बनी है इस इकाई में हम रसेल के इस तर्कीय–परमाणुवाद की भी व्याख्या करेंगे।

5.1 प्राक्कथन

बर्ट्रेंड रसेल का आरंभिक वस्तुवाद पूरी तरह से जी ई मूर के प्रभाव से ग्रस्त था । लेकिन जैसे जैसे उनकी विचारणा आगे बढ़ती गई, उन्होंने मूर के ढीले–ढाले सामान्य बुद्धि के सिद्धांत से हटकर अधिक सटीक और अधिक तर्क–संगत दृष्टि अपनाना आरम्भ कर दिया। रसेल की मूल दिलचस्पी गणित और तर्कशास्त्र में हमेशा से ही रही और इसी दृष्टि का उपयोग उन्होंने दार्शनिक चिंतन मे करना शुरू कर दिया। रसेल इस बात से पूर्णतः आश्वस्त थे कि इन्द्रिय–प्रदत्तों से हमें जो ज्ञान मिलता है वही सटीक ज्ञान है किन्तु इस ज्ञान से भौतिक पदार्थों के अस्तित्व का अनुमान लगाना, तर्क संगत नहीं है। उन्होंने केवल इन्द्रिय–प्रदत्तों के साक्षात ज्ञान को ही सटीक माना। इस तरह का ज्ञान हम सभी को होता है। यह अलग अलग तरह का और अलग अलग परिप्रेक्ष में होता है। रसेल का कहना हैं कि इसी ज्ञान को संयोजित कर वस्तुतः हम भौतिक वस्तुओं और अन्य विषयों की रचना करते हैं। भौतिक वस्तुएं और अन्य सभी विषय इस प्रकार हमारे सबके साक्षात ज्ञान पर आधारिक तर्कीय "रचनाए" हैं, अतार्किक अनुमान नहीं हैं। वह इस प्रकार 'भौतिक' और 'मानसिक' के अंतर को मिटा कर दोनों को ही "तार्किक–रचनाएं" घोषित कर देते है। बर्ट्रेंड रसेल यहीं नहीं रुक जाते। वह यह मान कर कि हमारे तथ्यात्मक जगत की तरह हमारी भाषा भी एक जटिल संरचना है वह भाषा के जटिल वाक्यों को सहज इकाइयों में विश्लेषित करने का प्रयत्न करते हैं और इसके लिए वह गणित से नोटेशन और सत्य–फलन की पद्धति को अपनाते हैं।

भाषा की जटिल प्रतिज्ञप्तियों को सहज प्रतिज्ञप्तियों में परिवर्तित कर वह उनकी सत्यता को सहज तथ्यों से फलित करते हैं। और इस प्रकार वह अपने तर्कीय–परमाणुवाद को स्थापित करते हैं। रसेल अपने दृष्टिकोणों को प्रायः बदलते गए हैं किन्तु वह कुछ बातों पर हमेशा दृढ रहे। इन्द्रिय दत्तों के साक्षात ज्ञान को उन्होंने कभी न तो निरस्त किया और न कभी उस पर संदेह किया। इसी प्रकार, भौतिक पदार्थ और मन में उन्होंने कभी विरोध स्वीकार नहीं किया और दोनों को ही "तार्किक–रचनाओं" के रूप में स्वीकार किया।

5.2 तार्किक सिद्धांत की पृष्ठभूमि

पिछली इकाई में हमने देखा कि बर्ट्रेंड रसेल ने दो प्रकार के ज्ञान में भेद किया। एक तो साक्षात–ज्ञान और दूसरे वर्णन–ज्ञान। साक्षात–ज्ञान के अंतर्गत इन्द्रिय–दत्त हैं जिनका हम साक्षात प्रत्यक्ष करते हैं। किन्तु साक्षात प्रत्यक्ष तो बहुत कम विषयों का हो पाता है। फिर हम अन्य विषयों को कैसे जानते हैं? इसके लिए हम अधिकतर अनुमान लगाते हैं। विज्ञान में भी हम ऐसे तमाम तत्वों का उपयोग करते रहे हैं और करते आ रहे हैं जिनका हम प्रत्यक्ष निरीक्षण नहीं कर सकते। लेकिन जिनका हम अपने इन्द्रियानुभाव से प्राप्त ज्ञान से अनुमान लगा सकते हैं। वि ुत चुम्बकीय क्षेत्र, प्रोटोन, इत्यादि, ऐसी ही

अवधारणाएं हैं। पर अनुमान से लगाई गईं इन धारणाओं के साथ सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इनका हम तथ्यों से सह–सम्बन्ध कैसे स्थापित करें? क्योंकि ये स्वयं तो निरीक्षण से परे होती हैं ।

अभी तक रसेल ऐसी सारी अवधारणाओं का (मन, मनुष्य, भौतिक पदार्थ आदि, सभी का) अनुमान भर लगाते थे। यह अनुमान कई तरह से त्रुटिपूर्ण था। एक तो इसलिए कि तर्कतरू यह संभव नहीं था कि हम इन्द्रिय–दत्तों से ऐसे वस्तुओं का अनुमान लगाएं जो अनुभव में प्रत्यक्षतः न आती हों। आनुभविक और गैर अनुभविक को कैसे संयुक्त किया जाए? वस्तुतः यह तार्किक रूप से संभव नहीं है, और यदि हम इनके लिए 'वर्णन–सिद्धांत' को लागू करें (जैसा कि रसेल ने किया) तो फिर तो हम ऐसी–ऐसी वस्तुओं का भी वर्णन कर सकते हैं जिनका संसार में अस्तित्व ही न हो!

अतः रसेल ने इन कठिनाइयों से बचने के लिए ही "तर्कीय रचना" का एक नया सिद्धांत अपनाया। रसेल ने मन और जगत की व्याख्या के लिए जो पहले एक अतिवादी वस्तुवाद का दृष्टिकोण अपनाया था उसके मुकाबिले तर्कीय–रचना के इस सिद्धांत में हम एक स्पष्ट परिवर्तन देखते हैं। अब हम इस तर्कीय रचानावाद या तार्किक सिद्धांत के बारे में विस्तार से जानने की कोशिश करें।

5.3 तर्कीय रचनावाद

रसेल ने बड़े परिश्रम से यह दिखाने का प्रयास किया कि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त उन इन्द्रिय–दत्तों से हम त्तार्किक रूप से वस्तुओं/तत्वों/विषयों/पदार्थों आदि को अनुमान के आधार पर बेशक हम स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु उनकी "तार्किक रचना" कर सकते हैं और तार्किक रचना के माध्यम से तथा–कथित अनुमान की वस्तुओं को रचनाओं" के रूप में देख सकते हैं। रसेल ने अपने तर्कीय रचना कि इस सिद्दांत को कई क्षेत्रों में घटित किया। भौतिक वस्तुओं के सन्दर्भ में रसेल कहते हैं कि भौतिक वस्तुएं दृ मेज़, कुरसी, इमारतें, वृक्ष आदि। हमें अपने प्रत्यक्ष में कभी प्राप्त नहीं होतीं। उदाहरण के लिए हम एक वृक्ष को कभी नहीं देखते और जो प्रत्यक्ष होता है वे केवल वृक्ष के आकार–प्रकार संबंधी इन्द्रिय–दत्त हैं। ये इन्द्रिय–दत्त भी कुछ तो व्यक्ति–सापेक्ष होते हैं जिन्हें हम वृक्ष पर आरोपित कर देते हैं (जैसे, रूप रंग आदि) और कुछ वृक्ष सापेक्ष होते हैं। इस प्रकार हमें अपने इन्द्रिय–दत्तों में जो दत्त मिलते हैं उनमें से कुछ व्यक्ति–निष्ठ हैं और कुछ वस्तु–सापेक्ष हैं। इन अनुभवों को जब हम अन्य परिप्रेक्षों से (अर्थात अन्य व्यक्तियों के दृश्य–दत्तों और भौतिक नियमों से) संयुक्त करते हैं तो हमें वृक्ष (अर्थात, भौतिक वस्तु) प्राप्त होता है। यह भौतिक वस्तु इस प्रकार हमारे और हमारे जैसे अन्य व्यक्तियों के अनुभवों द्वारा निर्मित "एक नवीन रचना" है, यह किसी के अनुमान द्वारा प्राप्त नहीं है।

भौतिक वस्तु की ही भांति रसेल आत्मन या मन को भी एक तर्कीय रचना का दर्जा देते हैं। यह भी हमारे प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा निर्मित रचना है। हमारे विविध अनुभवों, स्मृतियों और अन्य परिर्क्षों के संयोजन से हम तर्क द्वारा मन या आत्मन को "निर्मित" करते हैं। यह केवल एक ऐसे अनुमान की वस्तु नहीं है जो तर्क द्वारा समर्थित न हो। इसकी "निर्मिति' के पीछे अन्य व्यक्तियों के अनुभव का ठोस तर्क है।

रसेल इसी प्रकार 'सामान्य'(यूनिवर्सल्स) को भी 'तर्कीय–रचना' की कोटि में रखते हैं। उदाहरण के लिए 'मनुष्य मरणशील है' इस वाक्य में जिस 'मनुष्य' की हम बात करते है, वह कोई व्यक्ति मनुष्य नहीं हैं बल्कि सामान्य मनुष्य है। यह सामान्य भी अनेकानेक लोगों के विविध परिप्रेक्ष्यों में इन्द्रिय दत्तों के तर्कीय संयोजन से प्राप्त एक "तर्कीय–रचना" है , न कि कोई असंगत और तर्क रहित अनुमान है।

रसेल के इस तर्कीय रचना के सिद्धांत द्वारा प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण सरल हो गया। अब उन्हें यह कठिनाई नहीं रही कि ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ जिनमें ये तार्किक रचनाएं आती हैं उनकी व्याख्या कैसे की जाए ? अभी तक इन्हें वर्णन सिद्धांत से अपूर्ण प्रतीकों के रूप में लिया जा रहा था जो स्पष्ट ही तर्क संगत नहीं था।

इसके अलावा रसेल ने यह भी अनुभव किया इन तथाकथित अपूर्ण प्रतीकों की संख्या तो बढ़ती ही चली जाएगी और ऐसी अनुमिति इकाइयों की संख्या अनावश्यक रूप से बढ़ाते चले जाना वास्तविक व्याख्या नहीं है। इससे तो इनसे निजात पा लेना ही अच्छा है! अतः रसेल ने बाद में जहां तक संभव हुआ अनुमिति इकाइयों (Inferred entities)के स्थान पर तार्किक–रचनाओं को प्रतिस्थापित किया।

रसेल का तर्कीय–रचानावाद उन तमाम तत्वों को निरस्त कर देते हैं जो हम अनावश्यक रूप से गढ़ लेते हैं या जिनके अस्तित्व बारे में हम अनुमान लगाते रहते हैं और जिन्हें हम अनुभव के परे मानते हैं। प्रत्ययवादियों ने तो ऐसे तत्वों को गढा ही है, वस्तु–वादी दर्शन भी ऐसे उदाहरणों से वंचित नहीं रहा है। स्वयं रसेल का काम आरंभिक चरण में ऐसे तत्वों को माने बिना नहीं चला और उन्होंने प्रतिज्ञप्तियों के हर 'पद' के लिए कोई न कोई पदार्थ की संभावना को व्यक्त कर दिया। 'तर्कीय–रचना" सिद्धांत में वह ऐसे सभी तत्वों को यह कहकर निरस्त कर देते हैं कि ये सभी तथाकथित तत्व हमारे असंदिग्ध आनुभविक इन्द्रिय–प्रदत्तों और परिप्रेक्षों से अलग न होकर उन्हीं से प्राप्त तर्कीय रचनाएं हैं।

रसेल इस प्रकार अपने तर्कीय रचना के सिद्धांत द्वारा "भौतिक वस्तु" और "मन" के बीच दार्शनिक द्वैत को भी समाप्त कर देते हैं। दोनों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। भौतिक, आध्यात्मिक/शारीरक–मानसिक दोनों ही बस "तर्कीय–रचनाएं" हैं जो अंततः इन्द्रिय–दत्तों और भिन्न परिप्रेक्षों के संयोजन से निर्मित हैं।

5.3 दार्शनिक विश्लेषण –तार्किक परमाणुवाद की भूमिका

बर्ट्रेंड रसेल ने सत्ता को एक ऐसे संघात के रूप में देखा है जिसका विश्लेषण किया जा सकता है और यह सहज और संभव है। यह जटिल संघात (काम्पलेक्स) अनेक इकाइयों और तथ्यों से निर्मित है। विश्लेषण से इसे समझा जा सकता है। ये इकाइयां व्यष्टि (individual) हैं और अपने वाह्य संबंधों से निर्मित हैं। इन्हीं सेसमष्टि या संघात (complex) बना है। रसेल इसीलिए विश्लेषण को "समष्टि के घटकों की खोज" (The discovery of the constituents of a complex) कहते हैं। इस विश्लेषण की यह पूर्वमान्यता है कि समष्टि के तत्वों के बीच कोई आतंरिक सम्बन्ध नहीं है (जैसा कि प्रत्ययवादी मानते हैं)। सभी तत्वों, घटकों, प्रतिज्ञप्तियों के सन्दर्भ में 'पदों', और उनकी विशेषताओं के बीच सारे सम्बन्ध वाह्य हैं। हमारा विमर्श और चितन इनका विश्लेषण कर इन्हें बुद्धिगम्य बनाता है।

रसेल का इस प्रकार सारा अधिगमन तार्किक है। वह जगत की व्याख्या के लिए किसी अव्यवहित–अनुभूति (immediate experience or realization) का सहारा नहीं लेते (जैसा कि प्रत्ययवादियों ने अपने "निरपेक्ष–परम" (Absolute) को जानने के लिए लिया है)। रसेल तर्क का सहारा लेकर समष्टि की जो व्याख्या करते हैं उसे उन्होंने आकारिक–विश्लेषण (formal- analysis) कहा है।

रसेल की इस दार्शनिक विश्लेषण की की पद्धति को हम ब्रेडले निरपेक्ष–प्रत्यय वाद की पृष्ठ–भूमि में अच्छी तरह समझ सकते है। ब्रेडले के अनुसार हमारा विश्लेषणात्मक चिंतन वास्तविक सत्ता को अन्यथा

बना देता है और उसके यथार्थ स्वभाव को अवास्ताविक कर देता है। सत्ता एक समग्र एकत्व (organic unity) है, और उसके सभी अंग आतंरिक रूप से इस प्रकार सम्बंधित हैं कि उनका स्वतंत्र इकाइयों में विश्लेषण नहीं किया जा सकता। ब्रेडले इस प्रकार बहुतत्ववाद के विरोधी हैं और इसलिए साथ ही वह सत्ता के अंगों के बीच किसी भी वाह्य–सम्बब्ध को स्वीकार नहीं करते।

रसेल की स्थिति ठीक इसके विरोध में है। रसेल के अनुसार यदि हम यह मान भी लें कि सत्ता एक और अखंड है तो भी एक प्रत्ययवादी दार्शनिक को पद और उसके गुणों में भेद करना ही होता है और बाद में वह अपनी स्थिति को बचाने के लिए दोनों को एकात्म करके भेद में अभेद या "भेदान्वित अभेद" (identity in difference) के जरिए "परम" तक पहुंचता है। यह परम निरपेक्ष सत्ता एक ऐसी सत्ता है जिसे कभी भी, किसी भी विधेय (predicate) द्वारा प्रतिपादित। नहीं किया जा सकता ब्रेडले के अनुसार उसकी केवल अव्यवहित–अनुभूति भर की जा सकती है। ज़ाहिर है रसेल ने ऐसी सत्ता को यथार्थ से उलट केवल एक वैचारिक और बनावटी निर्मिति माना है।

5.4 तर्कीय परमाणुवाद

जैसा कि हम बता आए हैं, रसेल ने जगत की मीमांसा पूर्णतरूएक तार्किक ढंग से की है। वह इसे "आकारिक विश्लेषण" कहते हैं। आकारिक विश्लेषण भाषा की संरचना द्वारा जगत की संरचना को समझना है। रसेल के अनुसार भाषा का आकारिक विश्लेषण हमें ग़ैर–भाषिक जगत के आकार को समझने का एक अच्छा सुराग प्रदान करता है।

1, विश्लेषण तथ्यों का होता है – पूछा जा सकता है कि रसेल विश्लेषण आखिर करना किसका चाहते हैं? उनका उत्तर होगा कि वह "तथ्यों" का विश्लेषण करना चाहते हैं, वस्तुओं का नहीं। उनके अनुसार हमारे जगत में जो अनेकानेक वस्तुएं हैं उनकी विभिन्न विशेषताएं हैं और ये विशेषताएं वस्तुओं से और स्वयं वस्तुएं एक दूसरे से भिन्न भिन्न प्रकार से सम्बंधित है कि वस्तुओं की भिन्न भिन्न विशेषताएं और सम्बन्ध हैं – ये "तथ्य" हैं। अतः रसेल कहते हैं कि वस्तुएं और उनकी विशेषताएं या सम्बन्ध किसी न किसी अर्थ में तथ्यों के संगठक हैं। जटिल वस्तुओं के विश्लेषण को रसेल इस प्रकार तथ्यों के विश्लेषण में परिवर्तित कर देते हैं क्योंकि तत्य, ज़ाहिर है, वस्तुओं के बारे में ही होते हैं। हमारा विश्लेषण तथ्यों की जटिलता से आरम्भ होता है। तथ्य जटिल हैं क्योंकि उनके संगठक होते हैं और इसलिए उन्हें विश्लेषण के दायरे में सहज ही लाया जा सकता है।

2 सहज प्रतीक – तथ्य का कथन प्रतिज्ञप्तियों से किया जाता है और प्रतिज्ञप्तियाँ (प्रपोज़िशंस) भी तथ्यों की तरह जटिल होती हैं। वे शब्दों से बनी होती हैं। किन्तु कुछ शब्द निरूसंदेह सरल होते हैं। उदाहरण के लिए हम "लाल" शब्द लें। यह वस्तुओं के संघात से बना कोई शब्द नहीं है कि जिसके कतिपय अन्य संगठक हों। इसकी पहचान हमें लाल के प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) से ही होती है। अतः लाल शब्द का विश्लेषण संभव नहीं है। इसलिए इसे हम एक एक सहज–प्रतीक कह सकते हैं। किसी भी वाक्य में यह एक सहज विधेय (प्रेडीकेट)के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। जैसे कहें कि 'पुष्प लाल है'।

3 व्यक्ति वाचक संज्ञाएँ (प्रोपर नेम्स) भी सहज प्रतीक ही कहे जावेंगे। ये वे शब्द हैं जो विशेष व्यक्ति या वस्तु की ओर संकेत करते हैं। ये 'विशेषों' (पर्टीकुलर्स) को निर्द्रिष्ट करते हैं। कुछ अन्य सहज–प्रतीक

'विशेषो' की विशेषताओं और संबंधों को बताते हैं। पुष्प लाल है इसमें पुष्प शब्द "विशेष" वस्तु पुष्प–का सहज प्रतीक है और लाल पुष्प की विशेषता का दृउसके लाल रंग का–सहज प्रतीक है।

३, सहजतम दृप्रतिज्ञप्तियाँ –रसेल के अनुसार सहजतम प्रतिज्ञप्ति वह होगी जिसमे केवल एक व्यक्ति–वाचक संज्ञा और एक सहज विधेय हो। इस प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों को वह "परमाणु प्रतिज्ञप्तियाँ (atomic-propositions) कहते हैं और ये प्रतिज्ञप्तियाँ जिन तथ्यों के बारे में कथन करती हैं वे "परमाणु–तथ्य" (atomic- facts) कहे गए हैं।

4, अणु –प्रतिज्ञप्ति–परमाणु –प्रतिज्ञप्तियों से हम अधिक जटिल प्रतिज्ञप्तियों का निर्माण कर सकते हैं उदाहरण के लिए हम दो या दो से अधिक परमाणु प्रतिज्ञप्तियों को "और" या "अथवा" जैसे शब्दों से जोड़ सकते हैं और इस प्रकार एक अणु–प्रति ज्ञप्ति (molecular proposition) प्राप्त कर सकते हैं। "पुष्प लाल है और पुस्तक नीली है"– यह एक अणु–प्रति ज्ञप्ति का उदाहरण होगा।

5.6 सत्यापन की समस्या

सामान्यतः हम प्रतिज्ञप्तियों का सत्यापन (कि वे वस्तुतः सही हैं या नहीं) तथ्यों से करते हैं। परमाणु प्रतिज्ञप्तियों का सत्यापन हम परमाणु–तथ्यों से करते हैं। यह पुष्प है इस परमाणु–प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन हम फूल के परमाणु–तथ्य से कर सकते हैं। लेकिन अणु–प्रतिज्ञप्तियों का सत्यापन हम अणु–तथ्यों से नहीं कर सकते। वस्तुतः अणु–तथ्य होते ही नहीं और उनकी हमें प्रतिज्ञप्तियों के सत्यापन हेतु आवश्यकता भी नहीं है। परमाणु तथ्य परमाणु प्रतिज्ञप्तियों से अनुकूलता प्रदर्शित करते हैं दोनों के बीच सम–आकारिकता है। वे समाकृत हैं लेकिन अणु–प्रतिज्ञप्ति को वह क्या चीज़ है जो सत्य बनाती है? इसे सत्य बनाने वाला कोई अणु–तथ्य नहीं होता बल्कि बल्कि परमाणु–तथ्य होते हैं। कोई भी अणु–प्रतिज्ञप्ति इस प्रकार अपनी सत्यता के लिए परमाणु दृप्रतिज्ञप्तियों, की सत्यता/असत्यता पर पूरी तरह पूरी तरह से निर्भर होती है। दूसरे शब्दों में अणु–प्रतिज्ञप्ति की का सत्य–मूल्य परमाणु प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता–असत्यता द्वारा कि जिनसे वह निर्मित है, फलित (या घटित) होता है। अणु प्रतिज्ञप्तियाँ "और""या""अथवा" जैसे सियोजकों द्वारा निर्मित हैं।

Dictionary definitions and meaning of Truth Function

1- A statement so constructed from other statements that its truth-value depends upon the truth-value of other statements rather than on their meanings.

2- A function that determines the truth-value of a complex sentence solely in terms of the truth value of components statements without reference to their meaning.

3- A complex sentence whose truth-value is so determined such as negation or connection.

रसेल न केवल परमाणु–तथ्यों की बात करते हैं, बल्कि सामान्य–तथ्यों (universals- universal-fact) को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रतिज्ञप्ति को देखें" सभी बिल्लियाँ काली होती हैं।" इस कथन को हम कई परमाणु प्रतिज्ञप्तियों का संयोजन/संघात नहीं मान सकते। यानी "इसे यह बिल्ली काली है" और 'वह बिल्ल्ली काली है" और ......इत्यादि, प्रतिज्ञप्तियों द्वारा संयोजित अणु–प्रतिज्ञप्ति के रूप में नहीं रख सकते क्योंकि इस प्रकार सभी बिल्लियों को गिना देने के बाद भी यह कहना अनिवार्य होगा कि इस प्रकार जो

बिल्लियाँ गिनाई गईं हैं बस ये ही सारी की सारी बिल्लियाँ हैं। यहाँ स्पष्ट है कि कि "ये सारी की सारी बिल्लियाँ हैं" में सामान्य का तत्व पुनः आ जाएगा। अंत में कहा जाने वाला यह वाक्य भी एक सामान्य–प्रति ज्ञप्ति ही है। अतः रसेल के अनुसार "सभी बिल्लियाँ काली हैं" एक अणु–वाक्य नहीं हो सकता जिसे 'यह बिल्ली काली है" इत्यादि, परमाणु वाक्यों से सत्यापित किया जा सके। इसे सत्यापित करने वाला कोई "सामान्य तथ्य" ही होना चाहिए। रसेल इस प्रकार "परमाणु तथ्यों" के अतिरिक्त "सामान्य तथ्यों" को भी स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

बर्ट्रेंड रसेल इसी तरह "नकारात्मक तथ्यों" को भी स्वीकार कर लेते हैं। नकारात्मन प्रति ज्ञप्ति यों को हम अन्य किसी तरह सत्यापित कर ही नहीं सकते। उन्हें नकारात्मक–तथ्यों द्वारा ही सतापित काना होगा। लेकिन सत्यापन के इस चक्कर में सामान्य और नकारात्मक तथ्यों को गढ़ लेना भी समस्या का हल नहीं है।

रसेल इच्छाओं और विश्वासों को प्रकट करने वाली प्रतिज्ञप्तियों को कैसे सत्यापित किया जाए, ठीक ठीक बता नहीं पाते। उदाहरणार्थ, "जोन्स का विश्वास है कि धरती चपटी है" यह प्रतिज्ञप्ति देखने में एक अणु–प्रतिज्ञप्ति प्रतीत भले होलेकिन वस्तुतरू है नहीं। इसे वस्तुतः एक अणु–प्रतिज्ञप्ति कहा नहीं जा सकता। यह अणु–प्रतिज्ञप्ति के मुकाबले बिलकुल भिन्न है। ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को भी किन्हीं परमाणु प्रतिज्ञप्तियों का सत्या–फलन नहीं माना जा सकता।

अतः बाद में रसेल सहित लगभग सभी विश्लेषण में विश्वास करने वाले दार्शनिकों (वित्गेंस्टीन, विजडम आदि,) ने काफी प्रयत्न किया कि एकवाची परमाणु तथ्यों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के सभी तथ्यों को समाप्त कर दिया जाए। सभी ने किसी न किसी तरह से यह स्वीकार करना चाहा कि जगत केवल परमाणु–तथ्यों से ही निर्मित है और भाषा में केवल परमाणु–प्रतिज्ञप्तियों और अणु–प्रतिज्ञप्तियाँ ही होती हैं। परमाणु–प्रतिज्ञप्तियाँ और परमाणु–तथ्य ही अंतिम हैं या कहें, विश्लेषण के बाद प्राप्त अंतिम रूप से बचे तत्व (Residues) हैं और इमसे ही भाषा और जगत दोनों का ही चरित्र उद्घाटित होता है। तर्कीय–परमाणुवाद का मूल आशय यही रहा है।

5.8 मूल्यांकन–

बर्ट्रेंड रसेल का मुख्य उद्देश्य जटिल संघातों का सहज इकाइयों में विश्लेषण करना था। अपने इस प्रयत्न में रसेल ने अपनी आंग्ल अनुभववादी परम्परा का ही अनुसरण किया है। रसेल इससे बखूबी परिचित थे। यह परम्परा इंग्लेंड में लाक के समय से ही निरंतर विकसित होती गई थी। वहां यह एक लम्बी उर्वरक परम्परा रही है। इसकी निरंतरता पर कुछ समय के लिए इंग्लेंड के दार्शनिक परिदृश्य में जर्मन प्रत्ययवाद के प्रभाव के कारण विघ्न ज़रूर पडा और उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों से लेकर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक ब्रेडले और मेक्टागर्ट के निरपेक्ष प्रत्ययवाद की दार्शनिक लोकप्रियता से इसकी अपनी लोकप्रियता कम हो गई। किन्तु मूर और रसेल द्वारा प्रत्ययवाद के ज़ोरदार खंडन से विश्लेषणात्मक अनुभववाद एक बार फिर अपनी पूरी तेजस्विता के साथ चमकने लगा।

इंग्लेंड में एक लम्बे समय से यह माना गया है कि एक दार्शनिक का महत्त्वपूर्ण कार्य मानव अनुभव के स्थूल और जटिल संघटकों का उनके सहज–सरल तत्वों में विश्लेषण करना है। विश्लेषण द्वारा ही हम तथ्यों को निकटता से समझ सकते हैं और तभी सत्ता के सही स्वभाव के बारे में जाना जा सकता

है। विश्लेषण के पीछे दार्शनिकों के उद्देश्य निःसंदेह भिन्न भिन्न रहे हैं। बर्कले भौतिकवादी तत्व–मीमांसा के विरुद्ध इसका इस्तेमाल कर रहे थे और यह बताना चाहते थे कि हम अंततरू प्रत्ययों और आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य तत्व की कल्पना ही नहीं कर सकते। वहीं ह्यूम की दिलचस्पी पूरी तरह से एक अनुभववादी दृष्टिकोण को को स्थापित करने में थी। ये सभी दार्शनिक शब्दों और प्रत्ययों की बात करते थे लेकिन बर्ट्रेंड रसेल ने प्रत्ययों की बजाय प्रतिज्ञप्ति– यों और तथ्यों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसके अतिरिक्त रसेल ने अपने पूर्वगामी चिंतकों की तरह विश्लेषण का एक ढीला ढाला, अनौपचारिक और गैर–तकनीकी ढंग न अपना कर एक तर्क–सम्मत, चुस्त–दूरुस्त तरीका अपनाया। रसेल की विश्लेषण–पद्धति आंग्ल अनुभववादी परम्परा की ही एक अगली कड़ी के रूप में देखी जानी चाहिए।

गणित और तर्कशास्त्र रसेल की विशेष अभिरुचि के विषय थे। उन दिनों फ्रेगे ने दर्शन और गणित में जिस कार्य को आरम्भ किया था उसकी परिणति रसेल और वाइटहैड के महत्वपूर्ण ग्रन्थ *Principia Mathematica*में हुई। इसमें रसेल ने एक ऐसी अंक–पद्धति (notation) का आविष्कार किया कि जिसमें न केवल समस्त तर्कशास्त्र बल्कि समस्त गणित को भी प्रतीकों द्वारा लिखा जा सकता था । रसेल ने अपने दार्शनिक विश्लेषण में आंग्ल अनुभववाद का तो अनुसरण किया ही वह अपनी गणतीय प्रतिभा का प्रयोग भी करने से नहीं चूके। उनकी गणित की अंक–पद्धति स्पष्ट रूप से सत्य–फलन की पद्धति थी । इसमें अत्यधिक विस्तृत और जटिल सूत्रों/समीकरणों का निर्माण अभिव्यक्ति के बहुत थोड़े से सहज–रूपों (फ़ार्मस) में कुछ इस प्रकार किया गया था कि सूत्रों की सत्यता या असत्यता इन सहज रूपों पर पूरी तरह निर्भर रहती थी। सैद्धांतिक रूप से रसेल प्रायरूयह कहते थे कि जटिल समीकरण अपने आप में अनावश्यक हैं वे केवल अन्य अभिव्यक्तियों केसंक्षेप मात्र हैं। ये सूत्र प्रायरू बहुत विस्तृत होते हैं। और उनमें प्रतिज्ञप्तियाँ अपने सहजतम रूप में केवल एक या दो तार्किकशब्दों जैसे "और"," अथवा " या 'नहीं" के साथ होती है।

रसेल ने नोटेशन को एक आदर्श भाषा के रूप में लिया था। कम से कम उन्होंने उसे आदर्श भाषा की ओर अभिप्रेत माना। इस भाषा की कोई शब्दावली नहीं है। इसमें विशेष शब्दों का नहीं, केवल "वेरिएबल्स" का इस्तेमाल किया जाता है। इस भाषा का ढांचा हमारी सामान्य भाषा से किस प्रकार सम्बंधित है ? रसेल के अनुसार वस्तुतरू यह हमारी सामान्य भाषा ही है केवल यदि हम अपनी सामान्य भाषा के दोष उसमें से हटा दें तो !यानी रसेल की अंक–पद्धति में, उनके अनुसार, भाषा का मूल–सार (essence) है। रसेल ने यह मान लिया कि हमारी साधारण भाषा की सभी प्रतिज्ञपियाँ या तो परमाणु–प्रतिज्ञप्तियाँ है या फिर अणु–प्रतिज्ञप्तियाँ हैं और एकवाची परमाणु–तथ्य ही एक मात्र तथ्य हैं। रसेल से इन बातों में सहमत होना बहुत कठिन था। वित्गेन्सटाइन तक जो आरम्भ में रसेल से काफी–कुछ प्रभावित थे, बाद में इस तर्कीय–परमाणुवाद को पूरी तरह निरस्त करने को मजबूर हो गए। रसेल ने, प्रत्ययवाद का मूर की तरह खंडन कर, आंग्ल अनुभववाद का पक्ष लिया। किन्तु उनका दार्शनिक विश्लेषण "अनुभव" का विश्लेषण न होकर, कुल मिलाकर भाषा का एक गैर आनुभविक भाषा–विश्लेषण है।

मूर और रसेल, दोनों ने ही भविष्य के दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। एक पर दार्शनिक विश्लेषण के लिए और दूसरी ओर तत्व–मीमांसा के निरसन के लिए जितनी पृष्ठभूमि मूर और रसेल ने तैयार की, वह विटगेन्सटाइन को छोड़ कर और किसी दर्शन में नहीं मिलती। लेकिन यह भी स्वीकार कर

लेना अत्यंत आवश्यक है कि कि मूर और रसेल दोनों ही स्वयं तत्व–मीमांसा के विरोधी नहीं थे और उन्होंने उसके निरसन के लिए कभी जानबूझ कर काम नहीं किया।

रसेल के तर्कीय–परमाणुवाद से मिलता जुलता निष्कर्ष विटगेंस्टीन की सुप्रसिद्ध कृति *Tractatus Logico- Philosophic* में भी मिलता है। इसके अनुसार भी एक प्रतिज्ञप्ति को हम तभी अर्थवान मान सकते हैं जब वह किसी परमाणु तत्व के, जो हो या हो सकता हो, के अनुरूप हो, या फिर वह एक ऐसी ही प्रतिज्ञप्ति का,भले ही ,कितना ही जटिल क्यों न हो, एक सत्य–फलन हो। लेकिन यह एक मज़े की बात है कि इस सिद्धांत को प्रतिपादित करने के लिए रसेल ने और वित्गेंसटाइन ने भी जिन प्रतिज्ञप्तियों का इस्तेमाल किया वे प्रतिज्ञप्तियाँ इन दोनों प्रकारों में से परमाणु या अणु –किन्हीं में भी नहीं रखी जा सकतीं। ये प्रतिज्ञप्तियाँ किन्हीं तथ्यों का कथन नहीं करतीं। वे केवल तथ्यों के बारे में कुछ न कुछ कहती हैं, विशेषकर प्रतिज्ञप्तियों और तथ्यों के संबंधों के बारे में। लेकिन स्वयं परमाणुवाद के अनुसार ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ कुछ भी सार्थक नहीं कह पातीं। वे केवल तथ्यों के बारे में कुछ न कुछ कहती हैं। वे जो नहीं कहा जा सकता, उसे कहने का प्रयत्न करती हैं। वित्गेंसटाइन ने इसीलिए अपने बाद के दर्शन में परमाणुवाद को पूरी तरह निरस्त कर दिया। तर्कीय–परमाणुवाद इस तरह अपने ही जाल में फंस कर आत्म ह्त्या कर लेता है।

रसेल ने अपने दार्शनिक चिंतन की यात्रा में अनेक दृष्टिकोण अपनाए और यह कहना कठिन है कि कि वह अंततः किसे स्वीकार करते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि इन्द्रिय–दत्तों के साक्षात ज्ञान को वह कभी निरस्त नहीं का पाए और भौतिक और मानसिक के अंतर को समाप्त कर उन्होंने दोनों को ही तार्किक रचनाओं की तरह स्वीकार किया।

5.8 सारांश

बर्ट्रैंड रसेल ने आरम्भ में एक ऐसा वस्तुवादी दृष्टिकोण अपनाया था जिसमें भौतिक विषयों का केवल अनुमान लगाया जाता था कि वे भौतिक हैं। यह अनुमान तर्क–सागत नहीं था। अतः बाद में उनहोंने एक नया सिद्धांड प्रतिपादित किया जिसे तर्कीय–रचना वाद कहा जा सकता है। इस सिद्धानट के अनुसार हम भौतिक विषयों, आदि का अनुमान नहीं लगाते कि वे भौतिक हैं बल्कि विभिन्न व्यक्तियों के अलग अलग सापेक्ष ज्ञान (इन्द्रिय–दत्तों) के संयोजन द्वारा हमने भौतिक–और मानसिक विषयों की "तर्कीय–रचना" कि है। ये अनुमान के विषय नहीं हैं। अपने इस तर्कीय–रचना वाद से रसेल जहां एक ओर सभी विषयों को साक्षात ज्ञान से निर्मित "रचनाएं घोषित कर देते हैं वहीं मानसिक और भौतिक के द्वंद्व (विरोध)को भी समाप्त कर देते हैं।

बर्ट्रैंड रसेल सत्ता को एक समष्टिगत संघात के रूप में देखते हैं और उसे सहज इकाइयों में विश्लेषित कर समझना चाहते हैं। विश्लेषण उनके लिए समष्टि के घटकों की खोज है। समष्टि के घटक योगिक न होकर व्यष्टिगत (इंडिविजुअल) होते हैं। अपने गैर– भाषाई जगत को समझने के लिए रसेल भाषा का आकारगत विश्लेषण करते हैं। सामान्यतः प्रतिज्ञप्तियाँ जटिल होती हैं। जटिल प्रतिज्ञप्तियों को रसेल अणु–प्रतिज्ञप्ति कहते हैं। किन्तु उन्हें सहज प्रतिज्ञप्तियों में "और" "या"आदि, संयोजकों से जुड़ा हुआ देखा जा सकता है। हमारी समष्टि भी इसी प्रकार व्यष्टि–निष्ठ तथ्यों, जिन्हें सहज–तथ्यया परमाणु–तथ्य कहा गया है, का योग है।

"और" "या" आदि, जैसे संयोजकों से जुडी जटिल अणु–प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता/असत्यता की परीक्षा हम उनकी सहज–प्रति ज्ञप्ति यों की सत्यता/असत्यता से कर सकते हैं। यदि किसी जटिल प्रतिज्ञप्ति की सहज–प्रतिज्ञप्तियाँ सहज तथ्यों के अनुरूप हैं तो वे सत्य हैं और तब, जटिल प्रतिज्ञप्ति भी सत्य होगी। दूसरे शब्दों में कोई भी जटिल प्रतिज्ञप्ति अपनी सहज प्रतिज्ञप्तियों का "सत्य–फलन" हैं। यानी उसकी सत्यता सहज प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता से फलित होती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है के तथ्य हमेशा व्यष्टिगत होते हैं, वे जटिल प्रति ग्याप्तियों की तरह किन्हीं संयोजकों द्वारा जुड़े नहीं होते। अतः जटिल प्रतिज्ञप्तियाँ हमेशा सहज प्रतिज्ञप्तियों का ही सत्य–फलन होती हैं।

पर यहाँ यह बताना आवश्यक है कि यद्यपि अणु (संयुक्त) तथ्य नहीं होते किन्तु रसेल भौतिक तथ्यों के अतिरिक्त,नकारात्मक तथ्यों, इच्छाओं और विश्वासों के तथ्यों तथा सामान्य–प्रत्ययों के तथ्यों को स्वीकार करते हैं जो काफी विवादस्पद हो जाता है।

रसेल का तर्कीय रचानावाद और तर्कीय परमाणुवाद जहां एक ओर ब्रिटिश वस्तुवाद और दार्शनिक विश्लेषण की परम्परा की अगली कड़ी के रूप में देखा जा सकता है वहीं रसेल और वाईटहेड की गणित और तर्कशास्त्र की नई खोजों से भी इसके प्रणयन में काफी सहायता मिली है। सत्य–फलन और नोटेशन की धारणाओं का उपयोग इसका स्पष्ट प्रमाण है। पूर्व–विटगेन्सटाइन का भाषा सिद्धांत आरम्भ में रसेल के भाषा सिद्धांत से अत्यंत मिलता–जुलता सिद्धांत था लेकिन बाद में विटगेन्सटाइन ने इसके दोष और सीमाओं को जान कर इसे पूरी तरह से नकार दिया था। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि भाषा केवल वास्तविकता को चित्रित ही नहीं करती, उसके, इसके अतिरिक्त, अनेक अन्य कार्य हैं।

5.9 शब्दावली

तर्कीय– रचनावाद – Logical constructionism

तर्कीय –परमाणुवाद –Logical- atomism

संघात–Complex

व्यष्टि – The individual

समष्टि–The (collective) complex

आंगिक– एकत्व– Organic whole

भेदान्वित–अभेद – Identity-in-difference

विधेय – Predicate

प्रतीक– Symbol

सहज–प्रतीक – Simple Symbol

तथ्य – Fact(s)

परमाणु तथ्य – Atomic fact(s)

प्रतिज्ञप्ति –Proposition

परमाणु– प्रतिज्ञप्ति – Atomic proposition

अणु–प्रतिज्ञप्ति –Molecular proposition

सत्य–फलन –Truth function

अंक–पद्धति –Notation

5.10 प्रश्नावली

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

(1) रसेल के तर्कीय–रचना के सिद्धांत की पृष्ठभूमि बताते हुए, तर्कीय–रचनावाद स्पष्ट कीजिए।

(2) रसेल दार्शनिक विश्लेषण से क्या समझते हैं? वह किन विषयों को दार्शनिक विश्लेषण का पात्र मानते हैं। उदाहरण सहित सविस्तार स्पष्ट कीजिए ।

(3) संयुक्त (अथवा,अणु) प्रतिज्ञप्ति तथा सहज (अथवा, परमाणु) प्रतिज्ञप्ति में अंतर स्पष्ट कीजिए। किसी संयुक्त प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को हम कैसे मालुम करेंगे ?

(4) सत्य–फलन का क्या अर्थ है? प्रतिज्ञप्तियों के सन्दर्भ में उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

(5) रसेल के तर्कीय–रचनावाद और तर्कीय परमानुवाद का मूल्यांकन कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

निम्न–लिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए।

(1) अणु प्रतिज्ञप्ति और परमाणु प्रतिज्ञप्ति।

(2) सत्य–फलन

(3) विषयों के ज्ञान के सन्दर्भ में अनुमान और रचना

(4) दार्शनिक विश्लेषण

(5) तथ्य (फेक्ट्स) और पदार्थ/वस्तुएं (ऑब्जेक्ट्स)

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

निम्न–लिखित वाक्य सही है या गलत– चिह्नित कीजिए

(1) इन्द्रिय दत्तों से भौतिक वस्तुओं का अनुमान लगाना तार्किक रूप से सही नहीं है। (सही/गलत)

(2) अणु–प्रतिज्ञप्तियाँ सहज प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं। (सही/ गलत)

(3) संयुक्त–तथ्यों का अस्तित्व होता ही नहीं। (सही / गलत)

(4) अन्य पदार्थों की तरह मन भी एक तर्कीय रचना है। (सही / गलत)

(5) एक अणु–प्रतिज्ञप्ति अपनी परमाणु प्रतिज्ञप्तियों का सत्य–फलन नहीं होती। (सही / गलत)

5.11 –अनुशंसित पाठ्य–सामग्री

1. डा. सुरेन्द्र वर्मा –पाश्चात्य दर्शन की समकालीन प्रवृत्तियाँ, भोपाल 2000

2. Schilpp, P A –The Philosophy of Bertrand Russell, 1953

3- The Encyclopedia of Philosophy (ed- Paul Edwards)New York 1967

खण्ड 03–तार्किक भाववाद

खण्ड परिचय

इस खण्ड में निम्नलिखित इकाइयाँ हैं–

6. वियना सर्किल में विकसित तार्किक भाववाद
7. सत्यापन सिद्धान्त
8. तत्त्वमीमांसा का निरसन
9. दर्शन का कार्य

तार्किक भाववाद का दर्शन बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के दूसरे भाग में बड़े प्रबल रूप में प्रभावशाली हुआ। जिसका प्रारम्भ इस वैचारिक आंदोलन के रूप में हुआ कि जो कुछ भी कहा जाए वह इतना सरल और स्पष्ट हो कि उसके अवबोध में कोई कठिनाई उपस्थित ना हो।

तार्किक भाववाद ने दार्शनिक चिन्तन के प्रचलित ढंग पर कुछ ऐसा तीव्र प्रहार किया कि इसके बाद दार्शनिक चिंतन के ढंगों में सर्वथा नवीन परिवर्तन होते रहे।

इकाई– 6 वियना सर्किल में विकसित तार्किक भाववाद

इकाई की रूपरेखा

6.1 उद्देश्य

6.2 प्रस्तावना

6.3 पाठ-प्रस्तुतीकरण

6.3.1 विषय प्रवेश

6.3.2 अर्थ एवं परिभाषा

6.3.2 तार्किक भाववाद का उद्भव

6.3.3 तार्किक भाववाद के विकास का संक्षिप्त इतिहास

6.3.4 तार्किक भाववाद का लक्ष्य एवं सामान्य विधि

6.4 सारांश

6.5 शब्दार्थ-सूची

6.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

6.7 सम्बन्धित प्रश्न

.............0000............

6.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- तार्किक भाववाद के अर्थ को जानने में।
- तार्किक भाववाद के उद्भव को जानने में।
- तार्किक भाववाद के इतिहास को जानने में।
- तार्किक भाववाद का सामान्य लक्ष्य एवं सामान्य विधि को जानने में।

6.2 प्रस्तावना

तार्किक भाववाद का दर्शन एक वैचारिक गति है, जिसका प्रारम्भ एक वैचारिक आंदोलन के रूप में हुआ। जिस आंदोलन का जन्म कुछ लोगों के सम्मिलित प्रयास में हुआ, तथा इसके विकास में भी अनेक लोगों का योगदान होता रहा। इन लोगों की प्रारम्भिक मान्यता थी कि 'विचार के सरल प्रस्तुतीकरण में ही मूल कठिनाई है।' किसी एक विचार को स्पष्ट करने में कई विचारकों के विचारों का सन्दर्भ देना अनिवार्य हो जाता है। इस सभी का समवेत स्वरूप, सामान्य दृष्टि, सामान्य लक्ष्य तथा सामान्य विधि तक सीमित अवश्य है, किंतु कठिनाई है कि किसी वैचारिक कठिनाई को स्पष्ट करने में किसके विचार का साक्ष्य प्रस्तुत हो। यह कठिनाई और इस पर प्रस्तुत तार्किक भाववादियों के विचार से इकाई अपने स्थान की सीमा के अनुसार विस्तारित है।

6.3 पाठ-प्रस्तुतीकरण :

6.3.1 विषय-प्रवेशः

तार्किक भाववाद का उद्‌भव बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में वियना में हुआ। कुछ व्यक्तियों ने मिलकर एक वैचारिक संगठन बनाया जिसे **वियना सर्किल** के नाम से जाना गया। अपने इस **भाववाद** को इन लोगों ने **तार्किक** कहा है। इनकी मान्यता है कि इस भाववाद को स्थापित करने या सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अनुभव एवं विज्ञान ही इनके पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। अनुभव एवं विज्ञान ही इस **भाववाद** का विषय है। तार्किक भाववादी वैज्ञानिक कथनों को ही मूल मानते हैं, किंतु वे कथन प्रायः अस्पष्ट तथा अनेकार्थक होते हैं। अतः उनका सही अर्थ–निरूपण अनिवार्य है, और यह कार्य दर्शन कर सकता है क्योंकि दर्शन के पास इस कार्य को संपन्न करने के लिए तार्किक विधियाँ हैं। अतः तार्किक भाववादी **तार्किक विश्लेषण** तथा तार्किक संरचना की विधि को अपनाकर, उसी के माध्यम से अपने भाववादी निष्कर्ष को बढ़ाते हैं।

6.3.2 अर्थ एवं परिभाषा :

तार्किक भाववाद के लिए **तार्किक अनुभववाद** के अतिरिक्त **वैज्ञानिक अनुभववाद** का नाम भी प्रचलित हुआ किंतु चलन तार्किक भाववाद का ही है।यह भाववाद है तथा इसका भाववाद तार्किक है।

भाववाद क्या है? भाववादी दृष्टिऐसी दृष्टि है जो विचार को अनुभाविक तथ्यों के क्षेत्र तक सीमित रखना चाहती है, तथा अनुभवातीत अथवा काल्पनिक उड़ानों का सहारा नहीं लेने देती। इस प्रकार के एक दर्शन की स्थापना **अगस्त काम्टे** ने की थी। उन्होंने दार्शनिक चिंतन को वैज्ञानिक रूप देने की चेष्टा में दर्शन को आनुभविक तथ्यों तथा वैज्ञानिक विधि पर आधृत रखने की अनुशंसा की। कुछ उसी प्रकार की भाववादी दृष्टि तार्किक भाववाद में भी अपनायी है। उनकी भी मान्यता है कि विचार को तथ्यों पर आधारित होना चाहिए। तथ्यों का ज्ञान मात्र विज्ञान के द्वारा ही संभव है,

अतः इनकी मान्यता है कि दार्शनिक चिंतन को विज्ञान के सबल आधार पर खड़ा होना चाहिए। दर्शन जो विश्व की समग्रता का चित्र खींचने का प्रयत्न करता रहा है, वह निरर्थक है, क्योंकि ऐसा कोई प्रयत्न अनुभव एवं विज्ञान पर आधारित नहीं है।

अपने इस **भाववाद** को इन लोगों ने **तार्किक**कहा है क्योंकि जिस ढंग अथवा विधि से इस भाववाद को सँवारा गया है वह विविध तार्किक है। इनकी मान्यता है कि इस भाववाद को स्थापित करने या सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अनुभव एवं विज्ञान ही इनके पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। अतः अनुभव एवं विज्ञान ही इस **भाववाद** का विषय है, किंतु इस विषय का स्पष्टीकरण आवश्यक है।भाववाद विज्ञान पर आश्रित है। तार्किक भाववादी भी वैज्ञानिक कथनों को ही मूल मानते हैं, किंतु वे कथन प्रायः अस्पष्ट तथा अनेकार्थक होते हैं। अतः उनका सही अर्थ–निरूपण अनिवार्य है, और यह कार्य दर्शन कर सकता है क्योंकि दर्शन के पास इस कार्य को संपन्न करने के लिए तार्किक विधियाँ हैं। अतः तार्किक भाववादी **तार्किक विश्लेषण** तथा तार्किक संरचना की विधि को अपनाकर, उसी के माध्यम से अपने भाववादी निष्कर्ष को बढ़ाते हैं। इसी कारण इनका भाववाद तार्किक है।

तार्किक भाववाद के दोनों पदों (तार्किक और भाववाद) के प्रारंभिक समझ से इस विचार के विषय में कुछ प्रारंभिक जानकारी तो मिल जाती है, किंतु इसकी वैचारिक विषयवस्तु के विवरण के पहले उसके उद्भव एवं विकास के इतिहास का संक्षिप्त विवरण प्राप्त कर लेना अनिवार्य है।

6.3.3 तार्किक भाववाद का उद्भव :

तार्किक भाववाद का उद्भव बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में वियना में हुआ। कुछ व्यक्तियों ने मिलकर एक वैचारिक संगठन बनाया जिसे **वियना सर्किल** के नाम से जाना गया। इसमें प्रमुख व्यक्ति **मॉरिज स्लिक** थे। यह दर्शनशास्त्री, वैज्ञानिक, गणितज्ञ सबका संगठन था। इसमें दर्शन के क्षेत्र से स्लिक के अतिरिक्त ऑटो न्यूराथ, रुडाल्फ कार्नैप, हरबर्ट फाइगल, फ्रेड्रिक वाइजमैन, विक्टर क्राफ्ट आदि थे, तथा गणित एवं विज्ञान की ओर से हंस हैन, फिलिप फ्रैंक, कर्ट गोडैल आदि थे।

संगठन के सदस्य एकत्रित होकर सामान्य रूचि की समस्याओं पर विवेचन करते थे, उनके इस प्रकार के प्रयास के पीछे कुछ दार्शनिक विचार भी थे। दार्शनिक भाववाद जो उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित हुआ। उस प्रभाव में इन्हें भी प्रतीत हुआ कि कोई चिंतन जो अनुभव एवं विज्ञान के ठोस धरातल पर ना खड़ा रहेगा, वह अवास्तविक तथा कृत्रिम होगा। इसके अतिरिक्त उन पर विटगेन्स्टाइन के प्रारंभिक विचारों का भी प्रभाव पड़ा।तब तक विटगेन्स्टाइन का ट्रैक्टेटस प्रकाशित हो चुका था। ऐसा नहीं था कि इस पुस्तक के विचार ही तार्किकभाववाद की प्रेरणा थे। नहीं, वैसा कुछ विचार इन लोगों ने ट्रैक्टेटस के प्रकाशन के पहले भी प्रकाशित कर लिया था।किन्तु इसमें उन्हें अपने मतों मे सादृश्यता दिखी जिससे उन्हें बड़ा मिला, क्योंकि यह पुस्तक अपनी तार्किकता

एवं गहराई के कारण शीघ्र ही बड़ी प्रभावशाली सिद्ध हुई थी। इस संप्रदाय के कुछ सदस्यों से जैसे स्लिक तथा वाइजमैन के साथ विटगेन्स्टाइन के वैयक्तिक संबंध भी थे।

तार्किक भाववाद का उद्भव सामान्यतः दो रूप में प्रस्तुत होता है – एक तो इसके यूरोपीय रूप में, जिस रूप में इसका उद्भव हुआ तथा जिस रूप में इसे तार्किक भाववाद की संज्ञा मिली तथा दूसरे इसके प्रबल रूप में जो ब्रिटिश दर्शन में उजागर हुआ तथा जिसे एयर ने तार्किक अनुभववाद के नाम से प्रतिष्ठित किया। ध्यातव्य है कि इंग्लैंड की दार्शनिक परंपरा ही अनुभववादी है, जिसके फलस्वरूप कोई अंग्रेज दार्शनिक चाहे वह प्रत्ययवादी हो या वास्तववादी, चाहे वह तत्व–दार्शनिक हो या भाषा दार्शनिक– अनुभव को केंद्रीय बना ही लेता है, किंतु यह अनुभववाद पारंपरिक अनुभवाद से भिन्न है। लॉक,बर्कले, ह्यूम जैसे पारंपरिक अनुभववादी जब अनुभव का विश्लेषण करते हैं, तो वह विश्लेषण किसी–ना–किसी रूप में मनोवैज्ञानिक है ही। किंतु एयर जैसे तार्किक अनुभववादी अनुभव का तार्किक विश्लेषण करते हैं। यहाँ तार्किक विश्लेषण एक दृष्टि से भाषा–विश्लेषण है। वह भी भाषा–विश्लेषण का वह रूप जो मूर, रसेल, प्रारंभिक विटगेन्स्टाइन तथा कुछ यूरोपीय दार्शनिकों के विश्लेषण में उपलब्ध है। इस प्रकार के विश्लेषण का अंतिम आधार कुछ मूल अनुभव–बिन्दु ही हैं– चाहे वे साक्षात् अनुभव में प्राप्त अणुवाक्य हों, अथवा सामान्य ज्ञान के अनुरूप उपलब्ध कुछ आनुभविक वाक्य। इसी कारण यह तार्किक अनुभववाद है।

इन बातों को पूरी तरह स्पष्ट करने के लिए अब हम तार्किक भाववाद के विकास के इतिहास को संक्षिप्त विवरण के माध्यम से विवेचन करेंगे।

6.3.4 तार्किक भाववाद के विकास का संक्षिप्त इतिहास :

प्रारंभ में तार्किक भाववादियों का संगठन एक साधारण गोष्ठी –एक सामान्य क्लब के रूप में स्थापित हुआ, किंतु 1929 में इसे वैचारिक गोष्ठी का रूप मिल गया। प्रारंभ में यह लोग एकत्रित होकर सामान्य रुचि की समस्याओं पर विवेचना करते, किंतु अब यह एक वैचारिक आंदोलन के रूप में प्रकट हुआ। फलतः इसके सामान्य लक्ष्य तथा विधियाँ सामान्य ढंग से निश्चित हुई। इनका लक्ष्य बन गया कि दार्शनिक चिंतन को अनर्गल बातों से तथा काल्पनिक उड़ानों से हटाकर वैज्ञानिक भाववाद की स्थापना, समर्थन में लगाना है। इस उद्देश्य की स्थापना के लिए ढंग एवं विधियाँ निर्धारित होने लगीं, तथा उनके उपयोग-प्रयोग की चेष्टा होने लगी।

1929 में उन्होंने अपने पहले अंतर्देशीय कांग्रेस का आयोजन किया, जिसके फलस्वरूप इनका उत्साह और अधिक बढ़ गया क्योंकि बर्लिन, स्कैंडिनेविया आदि देशों के कुछ विचारकों का भी इन्हें सहयोग मिला, इनमें बर्लिन स्कूल के हैंस राइखेनबाख, रिचर्ग वान मिसेज तथा स्कैंडिनेविया के जुरजन जोरजेन्सन आदि प्रमुख थे। अमेरिका में भी चार्ल्समोरिस, क्वाइन तथा इंग्लैंड में स्टेबिंग,

ब्रेथवेट, एयर आदि भी समर्थक प्रतीत हुए। रुचिकर बात यह है कि इन सभी विचारकों का कुछ–न–कुछ योगदान इस विचार को बढ़ाने में अवश्य रहा है।

1930 में इन लोगों ने कार्नैप तथा राइखेनबाख के संपादन में एक पत्रिका का भी शुभारंभ किया जो **अरकेन्टीस** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार 1930 के बाद इस विचार में तीव्र प्रगति होती गयी। किंतु धीरे–धीरे इसके सदस्य अलग होते गए। कार्नैप प्राग चले गए, 1934 में हैन की मृत्यु हो गयी, 1935 में स्लिक अपने एक पागल विद्यार्थी के हाथों मारे गये। हिटलर की नाजी सरकार ने इन लोगों के आंदोलन में राजनैतिकता की गंध पायी, जिसके फलस्वरूप इसके अधिकतर सदस्यों को देश छोड़कर भागना पड़ा। न्यूराथ, जो हालैंड चले गए थे, इसे जीवित रखने का प्रयत्न करते रहे, तथा **हेग**से उन्होंने अरकेन्टीस पत्रिका का नाम बदलकर, उसे **द जर्नल ऑफ यूनीफाइड साइंस** का नाम देकर प्रकाशित करने का प्रयास किया। कार्नैप, जो अमेरिका चले गये, इसके सिद्धांत पर लिखते–सोचते रहे। फिर भी सदस्यों के अलग होने के कारण इसका प्रभाव टूटने लगा, तथा जिस तीव्रता से यह विचार अग्रसर हुआ था, उसी तीव्रता से यह धीमा भी होने लगा।

इस शिथिलता का एक वैचारिक कारण भी था। जैसा कि पहले बताया गया है कि, इस विचार के उत्पन्न होने का मूल कारण यह था कि यह लोग दर्शन के प्रचलित ढंग से क्षुब्ध थे। इन लोगों का विश्वास था कि प्रचलित तात्त्विक दर्शन ज्ञान के नाम पर अयथार्थ एवं काल्पनिक बातों का अंबार लगा देता है। ये सभी भाववादी विचार विज्ञान से प्रभावित थे तथा मानते थे कि वास्तविक ज्ञान मात्र विज्ञान ही दे सकता है। अतः तार्किक भाववाद का दो लक्ष्य बन गया था, एक निषेधात्मक तथा दूसरा भावात्मक। निषेधात्मक कार्य यह था कि तत्त्व–दर्शन का खंडन/निरसन किया जाए। इन लोगों ने इस उद्देश्य की पूर्ति यह दिखला कर करना चाहा कि तात्त्विक सत्ता संबंधी सभी कथन अर्थहीन हैं। इस बात को स्थापित करने के लिए उन्होंने एक अर्थ सिद्धांत प्रतिपादित किया जो अर्थ के सत्यापन सिद्धांत के नाम से विख्यात हुआ। अपने भावात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यथार्थ ज्ञान विज्ञान में ही उपलब्ध है तो दर्शन को इसे स्वीकार कर ही अग्रसर होना अनिवार्य है। अतः इनके अनुसार दर्शन का मूल कार्य विज्ञान के कथनों में निहित अस्पष्टता, अनेकार्थकता एवं व्यामिश्र को दूर करना है। इस कार्य के लिए इन लोगों ने तार्किक भाषा विश्लेषण का ढंग निकाला।

अब इन दोनों में कुछ ऐसी नवीनता थी कि विचारकों का ध्यान इन सिद्धांतों पर स्वभावतः आकृष्ट हुआ। प्रथमतः जो इनका सत्यापन अर्थ–सिद्धांत था, उसी की आलोचना आरंभ हो गयी। यह कहना गलत नहीं है कि 'तार्किक भाववाद' के ऐतिहासिक विकास का एक माध्यम इस प्रकार की आलोचनाएँ भी है। पहले–पहल इस सिद्धांत का एक बड़ा सरल रूप प्रतिपादित हुआ, उसकी आलोचना हुई। इसके समर्थकों ने उन आलोचनाओं के आलोक में इस सिद्धांत के जो प्रतिपादित रूप थे उनमें परिवर्तन करना आरंभ कर दिया और आलोचनाएँ हुई, जिसके फलस्वरूप इस सिद्धांत में और परिवर्तन करना अनिवार्य समझा गया। होते–होते यह ***सत्यापन अर्थ–सिद्धांत*** *दोष ग्रस्तसिद्ध*

होने लगा। यह उनका केंद्रीय सिद्धांत था। इसी सिद्धांत के आधार पर वे तात्त्विक उक्तियों को निरर्थक सिद्ध कर रहे थे। किंतु, जब उनका केंद्रीय स्तम्भ भी कमजोर पड़ने लगा, तो उनके विस्तार की उग्रता एवं तेजी शिथिल होने लगी।

कुछ ऐसा ही उसकी भावात्मक योजना के साथ भी हुआ।उन्होंने वैज्ञानिक उक्तियों की अस्पष्टता एवं अनेकार्थकता को दूर करने के प्रयास मैं एक **तार्किक विश्लेषण के विधि** को रूप दिया। किंतु यह विधि भी कुछ पूर्व मान्यताओं से ग्रसित रही, तथा इसकी माँगे कुछ इतनी कड़ी बन गई कि यह विधि पूर्णतया आकारिक विधि बनती गयी।फलतः इसके विरुद्ध भी प्रतिक्रिया हुई। इस विधि को प्रतिपादित करने वाले को ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह विधि भाषा–विश्लेषण का दावा तो करती है, किंतु भाषीय अभिव्यक्तियों के सभी ढंगों का विश्लेषण नहीं कर सकती। इस विश्लेषण की मांगे कुछ इतनी कड़ी हुई है कि इस प्रकार का विश्लेषण पूर्णतया नियमनिष्ठ औपचारिक विश्लेषण हो जाता है। किन्तुइन लोगों को प्रतीत होने लगा कि भाषीय अभिव्यक्तियाँ इतने विविध प्रकार की हैं कि उनका विश्लेषण अनौपचारिक होना चाहिए। फलतः अनौपचारिक विश्लेषण के नए–नए प्रभावशाली ढंग स्पष्ट होने लगे तथा तार्किक भाववादी योजना शिथिल पड़ने लगी।

किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि तार्किक भाववाद का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। नहीं, इसके विपरीत इस वैचारिक आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट है। दार्शनिक चिन्तन की प्रगति में जब–जबठहराव आने लगता है, अथवा जब–जब यह आवश्यकता से अधिक अमूर्त, अवास्तविक एवं काल्पनिक होने लगता है, तब–तब उसकी सार्थकता और उसकी प्रासंगिकता का प्रश्न उठ खड़ा होता है। उस समय कोई मौलिकढंग से नवीन विचारधारा दार्शनिक चिन्तन के ढंग को झटका दे ही देती है,तथा उसे सहज कर नये ढंग से सार्थक तथा प्रासंगिक बनाने का प्रयास करती है। उस समय का यह प्रयास भले ही बहुत दिन जीवित न रहे, किंतु उसकी सार्थकता दार्शनिक चिंतन कोझकझोर देने में है।उस सजगता में दार्शनिक चिन्तन चिन्तन की नयी दिशाएँ एवं विचार के नए आयाम ढूढ़ लेता है। इस दृष्टि से **'तार्किक भाववाद**' का दार्शनिक चिन्तन की प्रगति में अतुल्य योगदान है। इस झकझोर के फलस्वरूप समकालीन पाश्चात्य दर्शन सर्वथा नये–नये रूपों में निखरनें लगा। यही 'तार्किक भाववाद' का ऐतिहासिक महत्व है।

अतः इस विचारधारा के मूल पहलुओं की संक्षिप्त जानकारी अनिवार्य है। इसे हम मूलतः दो खंडों में देखतें हैं– एक तो तार्किक भाववाद के अंतर्गत तथा दूसरा तार्किक अनुभववाद के अंतर्गत। दोनों दो विचार नहीं, दोनों में सामान्य बातों में पूर्ण मतैक्य है। अंतर यही है कि पहले के अंतर्गत उन विचारों को स्पष्ट किया जाता है जो 'वियना सर्किल' में उभरे तथा मूलतः उस सर्कल के सदस्यों के द्वारा सँवारे गये।दूसरे में हम इस विचारधारा के ब्रिटिश रूप का विवेचन किया जाता है, जहाँ अपनी परंपरा के अनुरूप इसे 'तार्किक भाववाद' के स्थान पर 'तार्किकअनुभववाद' कहा गया। इसमें प्रमुखतः एयर के विचारों का उल्लेख किया जाता है। दोनों खंडों में अंतर भाववाद तथा'अनुभववाद' के नामों के अनुरूप स्पष्ट होता है, किंतु मूलतः सामान्य बातों में दोनों विचार एक

जैसे है। इन दोनों खंडों में तीन विषयों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है—(क) इनका अर्थ सिद्धांत (ख) इनके द्वारा तत्वमीमांसा का निरसन, तथा (ग) इनके अनुसार दर्शन का कार्य एवं लक्ष्य।

यहाँ हम 'वियना सर्कल' के सदस्यों पर केंद्रित तार्किक भाववाद के अन्तर्गत इनका विवेचन करेंगे।

6.3.5 तार्किक भाववाद का लक्ष्य एवं सामान्य विधिः

तार्किक भाववाद के लक्ष्य एवं सामान्य विधियों के विवरण में एक कठिनाई है। यह एक वैचारिक गति है, जिसका प्रारंभ एक वैचारिक आंदोलन के रूप में हुआ। जिस आंदोलन का जन्म कुछ लोगों के सम्मिलित प्रयास में हुआ, तथा इसके विकास में भी अनेक लोगों का योगदान होता रहा। प्रारंभ में इन लोगों को ऐसा लगा कि वे जो कुछ भी कह रहे हैं, वह इतना सरल और स्पष्ट है कि उनके अवबोध में कोई कठिनाई उपस्थित हो ही नहीं सकती, किंतु शीघ्र ही ऐसी—ऐसी वैचारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगी कि इनके समर्थकों में भिन्न—भन्न लोग भिन्न भिन्न कठिनाइयों से जूझने लगे। और यही इस विचार के सरल प्रस्तुतीकरण की मूल कठिनाई है। किसी एक विचार को स्पष्ट करने में कई विचारकों के विचारों का उद्धरण देना अनिवार्य हो जाता है। इन विचारको में **लक्ष्य** एवं **सामान्य विधि** की समानता अवश्य है, किंतु इस विशदीकरण में सब अपने—अपने ढंग से अग्रसर होते हैं। सबों का समवेत स्वरूप सामान्य दृष्टि, सामान्य लक्ष्य तथा सामान्य विधि तक सीमित अवश्य है, किंतु कठिनाई है कि किसी वैचारिक कठिनाई को स्पष्ट करने में किसके विचार का साक्ष्य प्रस्तुत हो। यह कठिनाई इकाई की अपने स्थान की सीमा के कारण और बढ़ जाती है।

तार्किक भाववाद के लक्ष्य एवं सामान्य विधियों के विवरण में तीन विषयों को प्रस्तुत किया जाता है—

(क) इनका अर्थ सिद्धांत।

(ख) इनके द्वारा तत्वमीमांसा का निरसन।

(ग) इनके अनुसार दर्शन का कार्य एवं लक्ष्य।

हमने देखा है कि तार्किक भाववादी विज्ञान से बड़े प्रभावित हैं। उनकी यह मान्यता है कि विज्ञान से ही ज्ञान मिलता है, जानकारी मिलती है। अतः उनके विचार में वही स्रोत जानकारी देने का अधिकारी है जो वैज्ञानिक ढंग से जानकारी दे सके। विज्ञान की नींव निरीक्षण—प्रयोग आदि पर आधारित है, अतः वही वाक्य ज्ञानात्मक कहा जा सकता है, जिसका आधार निरीक्षण या अनुभव हो। इसी दृष्टि से उन्होंने अर्थ का एक सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसे अर्थ का सत्यापन सिद्धांत कहा जाता है।

पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के इतिहास में दार्शनिक चिंतन की एक मूल शाखा तत्त्वमीमांसीय चिंतन रही है। तत्त्वमीमांसकों ने तत्व के स्वरूप के संबंध में तात्त्विक सत्ताओं(प्राकृतिक तत्व एवं ईश्वर) के संबंध में अनेकों उक्तियाँदी हैंजिन्हें वे आनुभाविक वाक्यों से अधिक निश्चयात्मक मानते रहें

हैं। तार्किक भाववाद तो अनुभव एवं विज्ञान पर आधारित हो अग्रसर होता है, अतः वे दार्शनिक चिंतन की तत्त्वमीमांसीय शाखा को निरर्थक प्रयत्न समझते रहे हैं। इसी कारण जब वे दर्शन का लक्ष्य ही अलग ढंग से निश्चित करते हैं, तो स्पष्टतः तत्वमीमांसा के लिए दर्शनशास्त्र में स्थान नहीं रह जाता। फलतः उनका एक लक्ष्यतत्त्वमीमांसा का निरसन हो जाता है।

तत्त्वमीमांसा का निरसन के साथ–साथ तार्किक भाववाद के सामने एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हो जाता है। अभी तक का दर्शनशास्त्र सामान्यतः तत्त्वमीमांसीय चिंतन करता रहा है। यदि यह चिंतन निरर्थक सिद्ध होता है, तो प्रश्न उठता है कि क्या दर्शनशास्त्र को अपनी दुकान बंद कर देनी है। अब दर्शनशास्त्र किस प्रकार का चिंतन करने में सक्षम सिद्ध हो सकता है। दर्शन का भावात्मक कार्य क्या हो सकता है?तार्किक भाववादियों का उत्तर है कि दर्शन के पास एक कार्य है जो वह अर्थपूर्णढंग से कर सकता है, क्योंकि इस विचारधारा ने उसे इस कार्य के करने के लिए एक विधि दी है। वह विधि है तार्किक विश्लेषण की विधि।

अतः सामान्य लक्षण तथा सामान्य विधि को ध्यान में रखते हुए इसके सामान्य विचारों को संगठित करने का प्रयास करेंगे, तथा प्रसंगानुसार अलग–अलग विचारकों के विचारों का विवरण देते चलेंगे।

6.4 सारांश

तार्किक भाववाद का उद्भव बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में वियना में हुआ। तार्किक भाववाद के लिए **तार्किक अनुभववाद** के अतिरिक्त **वैज्ञानिक अनुभववाद** का नाम भी प्रचलित हुआ, किंतु चलन तार्किक भाववाद का ही है। यह भाववाद है तथा इसका भाववाद तार्किक है। तार्किक भाववाद का दर्शन एक वैचारिक गति है, जिसका प्रारम्भ कुछ लोगों के सम्मिलित प्रयास में हुआ। इन लोगों की प्रारम्भिक मान्यता थी कि 'विचार के सरल प्रस्तुतीकरण में ही मूल कठिनाई है।' तार्किक भाववाद के लक्ष्य एवं सामान्य विधियों के विवरण में तीन विषयों को प्रस्तुत किया जाता है– (क) इनका अर्थ सिद्धांत, (ख) इनके द्वारा तत्त्वमीमांसा का निरसन, तथा (ग) इनके अनुसार दर्शन का कार्य एवं लक्ष्य। आगे चलकर जब उनका केंद्रीय स्तम्भ कमजोर पड़ने लगा, तब इसका प्रभाव टूटने लगा, तथा जिस तीव्रता से यह विचार अग्रसर हुआ था, उसी तीव्रता से यह धीमा भी होने लगा। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि तार्किक भाववाद का कोई प्रभाव ही नहीं पड़ा। तार्किक भाववादी विचारों के फलस्वरूप समकालीन पाश्चात्य दर्शन सर्वथा नये–नये रूपों में निखरनें लगा। यही 'तार्किक भाववाद' का ऐतिहासिक महत्व है।

6.5 शब्दार्थ सूची

लक्ष्य	निश्चित किया गया परिणाम
विधि	प्रक्रिया
तार्किक	तर्क द्वारा समर्थित

भाववाद	वह दृष्टि जो विचार को आनुभविक तथ्यों के क्षेत्र तक सीमित रखे
व्यामिश्र	मिलावटी

6.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. कार्नैप रुडोल्फः द लॉजिकल सिन्टेक्स ऑफ लैंग्वेज, हर्टकोर्ट ब्रेस एण्ड वर्ड इन्क, न्यू यार्क, 1937.
2. कार्नैप रुडोल्फः मीनिंग एण्ड नेसेस्टी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1947.
3. कार्नैप रुडोल्फः फिलोसिफिकल एण्ड लॉजिकल सिन्टेक्स, केन पॉल, लंडन, 1935.
4. राइखेनबाख एचः द राइज ऑफ साइंटफिक फिलासफी, यूनिवर्सिटी कैलिफोर्निया प्रेस, ब्रैकले, 1938.
5. शिलकः फिलासफी ऑफ नेचर, फिलोसिफिकल लाइब्रेरी न्यू यार्क, 1949.

6.7 सम्बन्धित प्रश्न

लघु उत्तरीय :

1. तार्किक भाववाद का उद्भव कब और किसके द्वारा हुआ?
2. तार्किक भाववाद एवं तार्किक अनुभववाद में अन्तर बतायें?
3. तार्किक भाववाद के अध्ययन की विषयवस्तु क्या है?
4. तार्किक भाववाद का लक्ष्य क्या है?
5. तार्किक भाववाद के विचारों पर किन विचारकों का प्रभाव पड़ा?
6. तार्किक भाववादी किस तत्त्व का विश्लेषण करते हैं?

दीर्घ उत्तरीय :

1. तार्किक भाववाद के उद्भव एवं विकास का संक्षिप्त परिचय दें?
2. अर्थ का सत्यापन सिद्धान्त क्या है?
3. तत्त्वमीमांसा के निरसन से तार्किक भाववाद का क्या आशय है?
4. तार्किक भाववाद के सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य का विवेचन कीजिए।

इकाई– 7 सत्यापन सिद्धान्त

इकाई की रूपरेखा

7.1 उद्देश्य

7.2 प्रस्तावना

7.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

7.3.1 विषय प्रवेश

7.3.2 अर्थ का सत्यापन सिद्धान्त

7.3.3 टैक्टेटस का प्रभाव

7.3.4 स्लिक का प्रारम्भिक मत

7.3.5 कार्नेप का मत

7.3.6 सत्यापन सिद्धान्त में परिवर्तन

7.4 सारांश

7.5 शब्दार्थ सूची

7.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

7.7 सम्बन्धित प्रश्न

7.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- सत्यापन सिद्धान्त को जानने में।
- सत्यापन सिद्धान्त के सम्बन्ध में टैक्टटस का प्रभाव को जानने में।
- सत्यापन सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्लिक का प्रारम्भिक मत को जानने में।
- सत्यापन सिद्धान्त के सम्बन्ध में कार्नेप का मत को जानने में।
- सत्यापन सिद्धान्त के सम्बन्ध में परिवर्तन को जानने में।

7.2 प्रस्तावना

तार्किक भाववाद के स्वरूप का वर्णन वियना सर्किल में विकसित तार्किक भाववादी विचारों में मिलता है। इसमें तार्किक भाववादीआनुभविक विचार के सरल प्रस्तुतिकरण के लिए एक विधि देते हैं। जिसे सत्यापन विधि कहते हैं। इसी विधि के विवरणमेंहम ऐसे विचारकों केविचारों का अध्ययन करते हैं, जो हमारे सत्यापन सिद्धान्त को विस्तृत कर देते हैं। सत्यापन सिद्धान्त के सम्बन्ध में हम टैक्टटस का प्रभाव, स्लिक का प्रारम्भिक मत, कार्नेप का मत, सत्यापन सिद्धान्त में परिवर्तन जैसे दृष्टिकोणों का अध्ययन करेंगे।

7.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

7.3.1 विषय प्रवेश

हमने देखा है कि तार्किक भाववादी विज्ञान से बड़े प्रभावित हैं। उनकी यह मान्यता है कि विज्ञान से ही ज्ञान मिलता है, जानकारी मिलती है। अतः उनके विचार में वही स्रोत जानकारी देने का अधिकारी है जो वैज्ञानिक ढंग से जानकारी दे सके। विज्ञान की नींव निरीक्षण–प्रयोग आदि पर आधारित है, अतः वही वाक्य ज्ञानात्मक कहा जा सकता है, जिसका आधार निरीक्षण या अनुभव हो। इसी दृष्टि से उन्होंने अर्थ का एक सिद्धांत प्रतिपादित किया जिसे अर्थ का सत्यापन सिद्धांत कहा जाता है।

7.3.2 ट्रैक्टटस का प्रभाव

इस सिद्धांत को विकसित करने के प्रयत्न में तार्किक भाववादी विटगेन्स्टीन के ट्रैक्टटस में निरूपित विचार से प्रभावित जान पड़ते हैं। वैसे विटगेन्स्टीन ने अपने को इनके साथ कभी नहीं जोड़ा, किंतु इन लोगों ने उन का सन्दर्भ दिया है। अतः पहले हम विटगेन्स्टीन के विचार के उस अंग के संक्षिप्त विवरण को देखेंगे जिसका तार्किक भाववादियों के सत्यापन सिद्धांत पर प्रभाव है।

विटगेन्स्टीन के अनुसार भाषा सूचनात्मक अर्थ में ज्ञान तभी दे सकती है, जब उससे किसी–ना–किसी रूप में **तथ्यों** का अथवा **वस्तुस्थिति** की जानकारी मिले। किंतु स्पष्ट है कि हमारी सामान्य–साधारण भाषा जिससे हम सूचना देते या पाते हैं, इस प्रकार सरल रूप में किसी वस्तुस्थित का निर्देश नहीं करती। विटगेंस्टीन का कहना है कि यदि भाषा का ज्ञानात्मक होने का दावा सही है, तो उसका विश्लेषण किया जा सकता है, जिस विश्लेषण के फलस्वरूप अंततः एक **प्राथमिक वाक्य** मिलेगा, जो रसेल के अणुवाक्य जैसा है, जिससे वस्तुस्थित का निर्देश होगा। विटगेंस्टीन ऐसे वाक्यों को **प्राथमिक वाक्य** कहते हैं। उनका कहना है कि वे पूर्णतया सरल तथ्यों के अनुरूप हैं, अतः उनसे सरल तथ्यों की जानकारी होती है। जो ज्ञानसूचक भाषा है, वह अंततः ऐसे ही प्राथमिक वाक्यों से निर्मित है। इस प्रकार के मिश्रित वाक्योंकी सत्यता और असत्यता इन्हीं प्राथमिक वाक्यों की सत्यता–असत्यता पर निर्भर है। और इसकी सत्यता–असत्यता का मापदंड इनका सरल तथ्यों अथवा वस्तुस्थिति के अनुरूप होने में है।

इस प्रकार के सभी वाक्यों के साथ यह होना ही है कि वे कुछ वस्तुस्थिति के अनुरूप होंगे, तथा कुछ वस्तुस्थिति से असंगत होंगे। वस्तुस्थिति की अनुरूपता से उनकी सत्यता निर्धारित होती है, तथा वस्तुस्थिति से असंगत होने से उनकी असत्यता स्पष्ट होती है। वैसे विटगेंस्टीन इस संदर्भ में दो चरम उदाहरण की बात भी करते हैं, एक तो वह स्थिति होगी जहां वाक्य सभी संभव वस्तुस्थिति से संगत हो, तथा दूसरा वह जहां वाक्य किसी वस्तुस्थिति से संगत ना हो।विटगेन्स्टीन पहले प्रकार के वाक्य को पुनरुक्ति कहते हैं, तथा दूसरे प्रकार के वाक्य को भी व्याघात कहते हैं। रुचिकर बात यह है कि इन दोनों में से कोई विश्व के विषय में, या तथ्यों के विषय में कोई जानकारी नहीं देता। पुनरुक्ति हर प्रकार की वस्तुस्थिति के लिए सत्य है, अतः किसी विशेष वस्तुस्थित का ज्ञान नहीं दे सकते,व्याघात किसी वस्तुस्थिति के अनुरूप नहीं हैं, अतः वे किसी वस्तुस्थिति की कोई जानकारी नहीं दे सकते। तो,विटगेन्स्टीन के अनुसार वैसे ही वाक्यों से जानकारी मिल सकती है जो या तो स्वयं प्राथमिक वाक्यो हों या ऐसे वाक्य हों जिनकी सत्यता–असत्यता उन प्राथमिक वाक्यों पर निर्भर हो जिनसे वे निर्मित हों।अतः उनके अनुसार प्राथमिक वाक्य ही मूल हैं जिनके बल पर जानकारी अथवा सूचनात्मक ज्ञान मिलता है। और उनकी इस क्षमता का आधार मात्र यही है कि वे वस्तुस्थिति को चित्रित करने में समर्थ हैं।

इस विचार से अर्थ का एक मापदण्ड निकल आता है। स्पष्ट है कि इन वाक्यों के सत्य–असत्य होने का आधार अनुभव पर चला आता है। यदि कोई वाक्य किसी वस्तुस्थिति को चित्रित नहीं करता, यदि किसी वाक्य का कोई तथ्यात्मक आधार नहीं है,यदि वह कोई तथ्य सूचित नहीं करता तो वह वस्तुतः वाक्य है ही नहीं, वाक्य जैसा दिखने वाला छद्‌म वाक्य है।

तार्किक भाववादी विटगेंस्टीन के इस प्रारंभिक विचार से बड़े प्रभावित हुए,फलतः उन्होंने यह सोचा कि वाक्यों की सार्थकता उनके अनुभव–आश्रित होने में है। यदि वही वाक्य वाक्य है, जो किसी तथ्य या वस्तुस्थिति का निर्देश करे, तो आनुभविकतथ्यों के अनुरूप होना,वाक्योंकी अर्थपूर्णता का मापदंड बन जाता है। इसी विचार को तार्किक भाववाद ने आगे बढ़ाया तथा उसे अर्थ के सत्यापन–सिद्धांत का रूप दिया। अब हम तार्किक भववाद के अर्थ–सिद्धांत की विवेचना करेंगे।

स्लिक का प्रारंभिक मत

विभिन्नतार्किकभाववादी विचारकों ने इस सिद्धांत पर बड़ा विशद् चिंतन किया है। उन सभी विचारों का पूर्ण परिचय तो संभव नहीं है। हम मौरिस स्लिकके विचारों की मूल बातों का उल्लेख कर यह दिखाएंगे कि कैसे–कैसे इस सिद्धांत में परिवर्तन होता रहा बात है। बात है कि इस सिद्धांत के प्रथम प्रतिपादन से ही इसके विरुद्ध आपत्तियां उठती रहीं, तथा इसके समर्थक उन आपत्तियों के आलोक में इसमें परिवर्तन करते रहे। फलतः यह सिद्धांत विभिन्न रूपों में परिवर्तित होता हुआ विकसित हुआ है। इसके विकास का विवरण भी अनिवार्य ही है।

स्लिक का कहना है कि हम जब भी यह पूछते हैं कि 'इसका अर्थ क्या है?', तो हम यही आशा रखते हैं कि हमारे समक्ष उन स्थितियों का विवरण प्रस्तुत होगा जिन स्थितियों में वह वाक्य

सत्य होगा, अथवा जिन स्थितियों में वह वाक्य असत्य होगा, दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी कथन के अर्थ बताने का मात्र एक ही ढंग संभव है, तथा वह है कि उन तथ्यों का विवरण कर दिया जाय जिनका होना उस कथन के सत्य होने के लिए अनिवार्य है। इस बात को स्पष्ट करते हुए स्लिक कहते हैं, इसे एक अन्य रूप में अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। हम किसी वाक्य का अर्थ कैसे समझते हैं? कहा जा सकता है कि यह संभव होता है जब उस वाक्य में व्यहृत शब्दों का अर्थ समझे। शब्दों का अर्थ तो शब्दों को परिभाषित करके स्पष्ट किया जाता है। किंतु, हर परिभाषा में नए–नए शब्दों का वह व्यवहार होता है? उनका अर्थ कैसे स्पष्ट होगा?पुनः दूसरी परिभाषा देनी होगी।किन्तु यह परिभाषा देने का सिलसिला कैसे रुकेगा?वह प्रक्रिया तभी रुकेगा जब अन्ततः शब्दों के अर्थ को दिखाया जा सके। अतः अन्ततः हमें शब्दों के अर्थ का निर्देश करना पड़ता है, अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब किसी आनुभविक तथ्य की ओर संकेत हो सके।

इस विवेचन का सारांश सरल एवं स्पष्ट है– हम किसी भी वाक्य को अर्थपूर्ण तभी कह सकते हैं जब उसके सत्य या असत्य होने पर जो अंतर पड़े, उस अंतर की आनुभविक परीक्षा हो सके, जो स्लिक की भाषा में परीक्षण भेद उत्पन्न कर सकें। परीक्षण भेद तभी संभव है, जब वह भेद अनुभव में दिखाई दे– जिस भेद का आनुभविक निर्देश हो सके, क्योंकि परीक्षणीय वही होता है जो अनुभव प्रदत्त हो। अतःस्लिक अर्थ का एक सरल मापदण्ड पा लेते है। किसी वाक्य के अर्थ बताने का अर्थ बस यह है कि उन ढंगों को बता दिया जाय जिससे इसका सत्यापन–असत्यापन हो सके। इसी कारण स्लिक कहते हैं कि किसी वाक्य का अर्थ उसके सत्यापन की विधि है।

स्लिक का दावा है कि उनका यह मत (अपने इस मत को वे सिद्धांत कहना पसंद नहीं करते) विज्ञान तथा सामान्य ज्ञान दोनों के अनुरूप है। उनका यह भी दावा है कि वस्तुतः व्यवहार में सदा से इस मापदण्ड का उपयोग होता रहा है, केवल इसे स्पष्ट वैचारिक मान्यता नहीं मिली। तार्किकभाववादने इसे मान्यता देकर दर्शनशास्त्र में इसे प्रतिष्ठित किया।

कार्नेप का मत

कार्नेप ने इसी प्रकार के मत को दूसरे रूप में स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि किसी भी वाक्य के दो अंश होते हैं–**शब्द भंडार** तथा **वाक्य विन्यास**। शब्द भंडार का अर्थ है ऐसे शब्दों का समूह जिनका अर्थ हो, तथा वाक्य विन्यास से उनका तात्पर्य उन नियमों से है जिनके आधार पर वाक्य निर्मित होते हैं। वाक्य अर्थहीन दो प्रकार से हो जाते हैं, एक तो तब जबकि शब्दों से ही कोई अर्थ सूचित ना हो, तथा दूसरा जब तब जबकि शब्दों के अर्थ पूर्ण रहते हुए भी वाक्यों के निर्माण में वाक्य–विन्यास के नियम का उल्लंघन हुआ है।'वह बंध्या पुत्र है' – यह पहले प्रकार का निरर्थक वाक्य है, क्योंकि इसमें 'बंध्या–पुत्र' शब्द ही से कोई अर्थ सूचित नहीं होता।'ईमानदारी गेंद खेलती है'– यह दूसरे प्रकार का निरर्थक वाक्य है क्योंकि यहां सभी शब्दों (ईमानदारी गेंद खेलना) से अर्थ सूचित होते हुए भी वाक्य–निर्माण के नियम का उल्लंघन हुआ है, क्योंकि इन शब्दों को वाक्य–विन्यास के नियम के अनुसार जोड़ा नहीं गया है।

कार्नेपइन वाक्यों की निरर्थकता का विश्लेषण करते हुए वाक्यों के अर्थ–निर्धारण का एक आधार देते हैं जो पुनः परीक्षणीयता अथवा सत्यापन का ही आधार बन जाता है। उनका कहना है कि अर्थपूर्ण भाषा अर्थपूर्ण इसी कारण है कि उसके आधार कुछ ऐसे **निरीक्षण–वाक्य** अथवा **स्वानुभवमूलक वाक्य** है जो उसके सत्यापन के आधार है। उदाहरणतः हम उन्हीं के द्वारा दिया गया उदाहरण लें, मानव–सदृश्य सभी जीव ऐसे जीव होते हैं जिनके खंडयुक्त अवयव होते हैं तथा जोड़वाले पैर होते हैं।' कार्नेप के अनुसार इस वाक्य की सार्थकता स्वानुभवमूलकवाक्यों पर निर्भर है जिनका स्पष्ट अनुभव निर्देश है, कि जैसे 'वह जीव है','उसके अवयव खंडयुक्त हैं, उसका पैर जोड़वाला है', इन सभी वाक्यों का आनुभविक आधार है, तथा इन्हीं के आधार पर पूरे वाक्य की सार्थकता निर्भर करती है। अतः कहा जा सकता है कि वही वाक्य सार्थक है, जिसकी सार्थकता का आधार स्वानुभवमूलक वाक्य है। अर्थात यहां भी यही निष्कर्ष निकल आता है कि वाक्यों की सार्थकता अंततः अनुभव परीक्षण अथवा अनुभव आश्रय पर निर्भर करती है।

न्यूराथ ने भी इस प्रकार के स्वानुभमूलकवाक्यों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार इस वाक्य में एक व्यक्तिवाचक–संज्ञा होती है जो अन्य पदों से संबंधित होती है, तथा इससे कुछ तथ्यात्मक निर्देश मिलता है –कुछ ऐसी सूचना मिलती है जो सरल रूप में घटित है। यह वाक्य उन्ही अनुभवों की सूचना है जो भाषा अंततः ऐसे स्वानुभवमूलक वाक्यों पर आधृत नहीं है, उनकी सार्थकता स्पष्ट नहीं हो सकती। अतः न्यूराथ भी उसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुंचते हैं जिस पर कार्नेप पहुंचते हैं।

सत्यापन सिद्धांत में परिवर्तन

अर्थ के सत्यापन सिद्धांत के इस प्रतिपादन के विरुद्ध इतनी आपत्तियां उठाई गई कि इसके समर्थकों को लगातार कुछ स्पष्टीकरण करना पड़ा तथा उसके परिणामस्वरूप इसके प्रारंभिक रूप में कुछ परिवर्तन भी करना पड़ा। हम यहां ऐसे दो प्रमुख परिवर्तनों का उल्लेख करेंगे।

सबसे पहला प्रश्न तो यह उठता है कि सत्यापन अथवा परीक्षणीयता से तार्किक भाववाद का क्या तात्पर्य है? क्या इससे वे वास्तविक परीक्षणीयता समझते हैं? यदि वाक्य की अर्थपूर्णता अनुभव–परीक्षापर आश्रित है, तो क्या उनका तात्पर्य यह है कि कोई वाक्य तब तक अर्थपूर्ण नहीं हो सकता जब तक उनसे सूचित स्थितियों का वास्तविक अनुभव ना हो जाय? यदि सत्यापन का यह अर्थ लिया जाय तो कठिनाई उपस्थित होती है। बहुत से ऐसे वाक्य हैं जिनकी **वास्तविक** अनुभव–परीक्षा संभव नहीं है। यदि इसे ही अर्थपूर्णता का आधार माना जाय तो इतिहास के सभी वाक्य अर्थहीन हो जाएंगे, क्योंकि उनसे सूचित होने वाली घटनाओं की **वास्तविक** अनुभव परीक्षा संभव नहीं है। उनके सामने एक उदाहरण उपस्थित होता है,'चंद्रमा के दूसरे और एक पर्वत श्रृंखला है।'इस वाक्य की **वास्तविक** अनुभव परीक्षा संभव नहीं है (उस समय चन्द्रमा पर पहुँचने के अभियान का प्रारम्भ नहीं हुआ था)। किंतु, यह वाक्य तो सर्वथा अर्थपूर्ण प्रतीत होता है।

इस कठिनाई के समाधान के प्रयत्न में तार्किक भाववाद ने अपनी ओर से स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। वह स्वीकारते हैं कि जब वह परीक्षणीयता अथवा सत्यापन को अर्थपूर्णता का आधार मानते हैं, तो उनका तात्पर्य वास्तविक अनुभव–परीक्षा से नहीं है। उनका तात्पर्य है कि'सिद्धांततः उनकी अनुभव–परीक्षा संभव हो।''चंद्रमा में पर्वत श्रृंखला है' वाले उदाहरण का विश्लेषण करते हुए स्लिक कहते हैं, कि सिद्धांततः यह असंभव नहीं है कि मानव उन सभी उपकरणों को इकट्ठा कर ले जिनके द्वारा चंद्रमा पर जाना संभव हो। यदि वैज्ञानिक ढंग से यह स्थापित भी हो जाता है कि चंद्रमा पर जाकर यह देखना है कि वहां पर्वत श्रृंखला है या नहीं असंभव है, फिर भी यह वाक्यअर्थहीन नहीं होता, क्योंकि हम उन सभी बातों का स्पष्ट विवरण दे सकते हैं, जिनके द्वारा इन बात की अनुभव–परीक्षा संभव हो सकती है। अर्थात इस वाक्य की अनुभव परीक्षा **तर्कतः**संभव है।अतः परीक्षणीयता की कसौटी **वास्तविक** अनुभव–परीक्षा नहीं,अनुभव–परीक्षा की संभावना है।

एक दूसरी कठिनाई जो तार्किक भाववाद के समक्ष प्रस्तुत की गई वह अधिक महवपूर्ण सिद्ध हुई, क्योंकिउसके समाधान में इस सिद्धांत के समर्थकों का मतभेद प्रकाश में आ गया।यदि अर्थ का सत्यापन सिद्धांत का यह कथन है कि वही वाक्य अर्थपूर्ण है जिसे अनुभव–परीक्षा के द्वारा किया सत्य या असत्य सिद्ध किया जा सके, तो प्रश्नउठता है कि क्या उनका तात्पर्य यह है कि वाक्य तभी अर्थपूर्ण होगा जब या तो उसे निश्चित रूप से सत्य या निश्चितरूप से असत्य बताया जा सके? क्या परीक्षणीयता से उनका तात्पर्य निश्चयात्मक परीक्षणीयता है? यदि ऐसा है तो अनेक प्रकार की कठिनाई तथा विसंगतियां उत्पन्न हो जाएंगे। सभी प्रकार के पूर्णव्यापी वाक्य अर्थहीन बन जाएंगे। विज्ञान के वाक्य भी अर्थहीन बन जाएंगे। जैसे इन वाक्यों को देखें – 'तत्त्वों में आकर्षण–शक्ति होती है''सभी मनुष्य मरणशील हैं' आदि। इन वाक्यों की **निश्चयात्मक अनुभव–परीक्षा** तो संभव नहीं है, तो क्या यह वाक्य अर्थहीन हैं? इस कठिनाई के समाधान में इस मत के समर्थकों में स्पष्ट मतभेद प्रकट हुआ। स्लिक ने तो इसका विचित्र समाधान दिया, उनका कहना है कि वस्तुतः ज्ञानात्मक दृष्टि से ये सभी वाक्य तो अर्थहीन हैं, क्योंकि इसके वास्तविक अर्थ का अवबोध नहीं होता। किंतु इन्हें महत्वपूर्ण निरर्थक वाक्य कहा जा सकता है, क्योंकि इनका आधार अनुभव है। वस्तुतः इनकी अनुभव–परीक्षा संभव नहीं, हालांकि इनकी स्थापना की चेष्टा अनुभव के आधार पर है।

किंतु, दूसरे विचारकों को यह समाधान संतोषप्रद प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें लगा की इन वाक्यों के पूर्ण अर्थ का पूर्ण अवबोध भले ही संभवन हो, यह वाक्य अर्थहीन नहीं। इस स्थल पर **कार्ल पॉपर** के मत का उल्लेख वांछनीय है। कार्ल पॉपर तार्किक भाववाद के साथ पूर्णतया जुड़े नहीं रहें हैं,हालांकि उनका संपर्क इससे रहा है। उनका मत इन सबों से भिन्न तथा पूर्णतया मौलिक है। उनका कहना है कि परीक्षणीयता का अर्थ अनुभव के द्वारा वाक्य की **स्थापना नहीं है**, बल्कि अनुभव में उस वाक्य की मिथ्यापनीयता की **संभावना** है। कोई वाक्य अर्थपूर्ण हो जाता है यदि अनुभव में उसके मिथ्याकरण की संभावना स्पष्ट हो जाय। ऊपर दिए दोनों पूर्णव्यापी वाक्यों ('तत्त्वों

में आकर्षणशक्ति है' तथा 'सभी मनुष्य मरणशील हैं') को अनुभव **स्थापित नहीं कर सकता**किन्तु, यह संभावना स्पष्ट है कि अनुभव में एक विरोधी उदाहरण भी प्राप्त हो जाए तो यह वाक्य खंडित हो जाएगा। यही अनुभव के द्वारा इसके असत्य बन जाने की संभावना, अनुभव से इसके मिथ्याकरण की संभावना इस वाक्य को अर्थपूर्ण बनाता है। तो कार्ल पॉपर के अनुसार अर्थपूर्णता का आधार सत्यापन नहीं मिथ्यापनीयता है।

पॉपर अपनेढंग से प्रभावशाली हुए, किंतुतार्किक भाववाद में इस मत को प्रश्रय नहीं मिला। इस परम्परा के बाद के विचारकों ने इस समस्या का समाधान दूसरे ढंग से निकाला। उन लोगों का कहना है कि वस्तुतः इस वाक्य की अर्थपूर्णता को सामान्य आनुभाविक वाक्यों (जैसे, 'दिवाल उजली है') कीअर्थपूर्णता के ढंग पर आंकना नहीं है, क्योंकि ये वाक्य सूचनात्मक नहीं हैं, **निश्चयात्मक वृत्ति** में नहीं है। वस्तुतः यह कोई स्थापना नहीं करता, इस प्रकार के वाक्य तो **हेत्वाश्रितवाक्य**हैं। उदाहरणतः'सभी मनुष्य मरणशील हैं' वाक्य 'क मरणशील है''ख मरणशील है' आदि वाक्यों को स्थापित नहीं कर रहा है। यह बिना कोई स्थापना किये मात्र यही कह रहा है कि 'यदि क मनुष्य है, तो वह मरणशील है।' किसी मनुष्य के विषय में यह कुछ नहीं कह रहा है।

ऊपर दिया विवेचन तार्किक भाववाद से बहुत आगे निकल जाता है, इसलिए उसके विशदीकरण में हम प्रवेश नहीं करेंगे। इस कठिनाई का सबसे सुन्दर समाधान एयर ने दिया है। उनका कहना है कि परीक्षणीयता का अर्थ निश्चयात्म परीक्षणीयता नहीं है, बल्कि **संभावनामूलक परीक्षणीयता** है। उनका तात्पर्य यह है कि विज्ञान के वाक्य तथा पूर्णव्यापी वाक्य अर्थपूर्ण है, इसलिए नहीं कि अनुभव से उनका निश्चयात्मक सत्यापन हो जाता है, बल्कि इसलिए कि अनुभव से उनके सत्य होने की संभावना स्पष्ट होती है।

इस सिद्धांत के मार्ग में एक और कठिनाई उपस्थित होती है, जिसकी ओर **सी0 आई0 लेविस** ने संकेत किया है। उनका कहना है कि उनका यह सत्यापन सिद्धांत आत्म–आश्रित हो जाता है। यदि अर्थपूर्णता की कसौटी परीक्षणीयता है, तो परीक्षण करने वाला केंद्रीय बन ही जाता है। उनका कहना है कि वे स्वीकारते हैं कि तार्किक भाववाद का अभिप्राय इस सिद्धांत को आत्म–केंद्रित बनाना नहीं है, किंतु जिस प्रकार से यह सिद्धांत प्रतिपादित होता है उससे यह आत्म–निष्ठ प्रतीत होता ही है।स्लिक ने लेविस द्वारा बतायी गयी इस कठिनाई पर विचार किया है। उनका कहना है कि इस प्रकार की कठिनाई को और बल मिल जाता है क्योंकि कार्नैप जैसे जैसे प्रबल तार्किक भाववादीने एक विशेष संदर्भ विधिमूलक आत्मानिष्ठता का उल्लेख ही नहीं, समर्थन भी किया है। स्लिक का कहना है कि ऐसी उक्तियों के उपयोग उपयोग से भ्रान्ति तो उत्पन्न नहीं होती है।विधिमूलक आत्मानिष्ठता**आत्मानिष्ठवाद**नहीं है, बल्कि कार्नैप की दृष्टि में भीअवधारणा–निर्माण की विधि है।स्लिक का कहना है कि तार्किक भाववाद पर आत्मानिष्ठवाद का आरोप सर्वथा गलत है, क्योंकि जो ऐसा कहते हैं,वे वस्तुतः इसके मूल–विचार बिंदु को पकड़ नहीं पाते। उनके अनुसार अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद अपने हर रूप में आत्म को केंद्रीय बनाकर अग्रसर होता है। तार्किक भाववाद 'अनुभव'

को केंद्रीय बनाता है। वे'आत्म' के संबंध में दिए गए कथनों को भी अर्थहीन कह देते हैं, क्योंकि 'आत्म' का अनुभव में आनुभविक आधार नहीं मिलता, आत्म–संबंधी कथनों की अनुभविक परीक्षा संभव नहीं।

इस प्रकार तार्किक भाववाद के **सत्यापन सिद्धांत** का मूल कथन यही है कि वह वाक्य या कथन या स्थापना अर्थपूर्ण माना जा सकता है जिसकी अनुभव–परीक्षा संभव हो जो आनुभविक दृष्टि से संभव हो। आनुभविक संभावना – अनुभव से सत्यापन – परीक्षा की संभावना अर्थपूर्ण कसौटी बन जाती है। बाद में तो आपत्तियों का उत्तर देते हुए स्लिक ने तो आनुभविक दृष्टि से संभव का अर्थ बड़ा ही विस्तृत कर दिया तथा कहा कि ऐसी हर चीज जो **प्रकृति–नियमों** को खंडित नहीं करती अनुभविक दृष्टि से संभव है। जो प्रकृति के नियमों से संगत है, वह अनुभव में संभव है। इस स्पष्टीकरण से नये प्रकार की कठिनाई उपस्थित हो जाती हैं, क्योंकि तब 'प्रकृति के नियम क्या है'?'क्या उन नियमों जानकारी हमें रहती है'? आदि प्रश्न उठ जाते हैं, अतः हम तार्किक भाववाद के अर्थ के सत्यापन सिद्धांत का निष्कर्ष यही कर के देखेंगे कि इसके अनुसार अर्थपूर्णता की कसौटी अनुभव **परीक्षा की संभावना** है।

एक विकल्प अभी भी शेष रह जाता है। कुछ वाक्य ऐसे भी प्रतीत होते हैं जिनकी अनुभव–परीक्षा की संभावना भी नहीं है, फिर भी अर्थहीन प्रतीत नहीं होते। उदाहरणतः हम इतिहास के वाक्यों को देखें, विज्ञान के सैद्धांतिक मान्यताओं के संबंध में वाक्यों को देखें। इनकी अनुभव–परीक्षा संभव नहीं, फिर भी वे अर्थहीन नहीं मानी जाते। कुछ तार्किक भाववादी विचारकों ने इस कठिनाई के निराकरण में एक और स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि अनुभव–परीक्षा का अर्थ केवल साक्षात् अनुभव–परीक्षा नहीं है,बलिक परोक्ष–परीक्षा भी है। कार्नैप ने **परोक्ष–परीक्षा** को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनुभव में यदि किसी कार्य का सत्यापन हो जाता है, तो परोक्ष रूप से उसे उत्पन्न करने वाले उसके कारक की भी अनुभव–परीक्षा हो जाती है। दैनिक जीवन में भी ऐसा होता है। उदाहरणतः हम देखना चाहते हैं कि बिजली की लाईन है या नहीं, इसे साक्षत रू में तो नहीं देख सकते। स्वीच जला देते हैं, यदि बिजली जलती है, पंखा चलता है, तो परोक्ष रूप से बिजली की धारा के होने का सत्यापन हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि यदि किसी कथन के परोक्ष अनुभव–परीक्ष की संभावना भी है, तो वह कथन अर्थपूर्ण है।

7.4 सारांश

तार्किक भाववादियों ने अर्थ का सत्यापन सिद्धांत प्रतिपादित किया। जिसके अनुसार वही वाक्य ज्ञानात्मक कहा जा सकता है, जिसका आधार निरीक्षण या अनुभव हो। इस सिद्धांत को विकसित करने के प्रयत्न में तार्किक भाववादी विटगेन्स्टीन के ट्रैक्टटस में निरूपित विचार से प्रभावित जान पड़ते हैं। ध्यातव्य है कि इस सिद्धांत के प्रथम प्रतिपादन से ही इसके विरुद्ध आपत्तियां उठती रहीं, तथा इसके समर्थक उन आपत्तियों के आलोक में इसमें परिवर्तन करते रहे। फलतः यह सिद्धांत विभिन्न रूपों में परिवर्तित होता हुआ विकसित हुआ है। सबसे पहले मौरिस

स्लिक ने बताया कि किसी वाक्य के अर्थ बताने का अर्थ बस यह है कि उन ढंगों को बता दिया जाय जिससे इसका सत्यापन–असत्यापन हो सके। कार्नेप ने इसी प्रकार के मत को दूसरे रूप में स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि अर्थपूर्ण भाषा अर्थपूर्ण इसी कारण है कि उसके आधार कुछ ऐसे निरीक्षण–वाक्य अथवा स्वानुभवमूलक वाक्य है जो उसके सत्यापन के आधार है। न्यूराथ ने भी इस प्रकार के स्वानुभमूलक वाक्यों का उल्लेख किया है। तार्किक भाववाद के विकास क्रम में परिस्थितिनुसार उपस्थित दो प्रमुख परिवर्तनों उल्लेखनीय हैं। पहला परिवर्तन–परीक्षणीयता की कसौटी **वास्तविक** अनुभव–परीक्षा नहीं, अनुभव–परीक्षा की संभावना है। पुनः परिवर्तन एयर द्वारा कि परीक्षणीयता का अर्थ निश्चयात्म परीक्षणीयता नहीं है, बल्कि संभावनामूलक परीक्षणीयता है। अंततः हम तार्किक भाववाद के अर्थ के सत्यापन सिद्धांत का निष्कर्ष यही कर के देखेंगे कि इसके अनुसार अर्थपूर्णता की कसौटी अनुभव परीक्षा की संभावना है।

7.5 शब्दार्थ सूची

तथ्य	वास्तविकता
वस्तुस्थिति	मामलों का दशा
अणुवाक्य	प्राथमिक वाक्य
पुनरुक्ति	दोहराव
व्याघात	अंतर्विराध
परीक्षणीय	जाँच योग्य
स्वानुभवमूलक	स्वयं द्वारा अनुभव किया हुआ
तर्कतः	शुद्धता के साथ
हेत्वाश्रित	काल्पनिक

7.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. शिलकः फिलासफी ऑफ नेचर, फिलोसिफिकल लाइब्रेरी न्यू यार्क, 1949.
2. कार्नैप रुडोल्फः फिलोसिफिकल एण्ड लॉजिकल सिन्टेक्स, केन पॉल, लंडन, 1935.
3. कार्नैप रुडोल्फः द लॉजिकल सिन्टेक्स ऑफ लैंग्वेज, हर्टकोर्ट ब्रेस एण्ड वर्ड इन्क, न्यू यार्क, 1937.
4. कार्नैप रुडोल्फः मीनिंग एण्ड नेसेस्टी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1947.
5. एयर : लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लॉजिक, लण्डन गोलेन्ज, 1946
6. प्रो0 बी के लालः समकालीन पाश्चात्य दर्शन
7. प्रो0 लक्ष्मी सक्सेनाः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

7.7 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय :

1. अर्थ सिद्धान्त से आप क्या समझते हैं?
2. अर्थ सिद्धान्त के सम्बन्ध में सत्यापन का अर्थ स्पष्ट करें।
3. सामान्य–साधारण भाषा में विटगेन्सिटीन कौन से दोष दिखाते है?
4. तार्किक भाववाद किसे अपना अन्वेष विषय समझती है?
5. स्लिक का प्रारम्भिकमत क्या हैं?
6. कार्नैपसत्यापन सिद्धान्त को किस आधार पर सिद्ध मानते हैं?
7. सत्यापन सिद्धान्त के परिवर्तन कौन सेहैं?
8. सत्यापन सिद्धान्त का निष्कर्ष क्या हैं?

दीर्घ उत्तरीय :

1. तार्किक भाववाद केज्ञानात्मक वाक्यों से आप क्या समझते हैं?
2. सत्यापन सिद्धान्त के परिवर्तनोंकी व्याख्याकीजिये?
3. सत्यापन सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिये?

.....000.......

इकाई– 08 तत्त्वमीमांसा का निरसन

इकाई की रूपरेखा

8.1 उद्देश्य

8.2 प्रस्तावना

8.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

8.3.1 विषय प्रवेश

8.3.2 निरसन के प्रयत्न का सामान्य रूप

8.3.3 कार्नैप के द्वारा तत्त्वमीमांसा का निरसन

8.3.4 तत्त्वमीमांसा के निरसन का सामान्य निष्कर्ष

8.4 सारांश

8.5 शब्दार्थ सूची

8.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

8.7 सम्बन्धित प्रश्न

8.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- तत्त्वमीमांसा का निरसन के सामान्य रूपरेखा को जानने में।
- निरसन के संबंद्ध मेंकार्नैप के मत को जानने में।
- तत्त्वमीमांसा के निरसन का सामान्य निष्कर्ष को जानने में।

8.2 प्रस्तावना

सर्वप्रथम हुर्सर्ल और उनके अनुयायियों ने इस शब्द का प्रयोग एक संपूर्ण दार्शनिक विधि के लिए किया। फेनोमेनालॉजी के अध्ययन का विषय है चेतना और उसका लक्ष्य। चेतना में आद्य प्रदत्त मूल भाव को पकड़ना। हुर्सर्ल आत्मनिष्ठ चेतना के विश्लेषण द्वारा ऐसे स्वतः सिद्ध वस्तुनिष्ठ

सार भाव को ढूंढना चाहते हैं जो प्रत्येक प्रकार के ज्ञान का आधार हो। उनकी रुचि तत्त्व मीमांसा में ना होकर ज्ञान मीमांसा में है, उनका उद्देश्य चेतना के विकास की नहीं बल्कि चेतना में प्रयुक्त प्रदत्तों की खोज करना है। उनके अनुसार वास्तविक वस्तु वह है जिसकी प्राप्ति शुद्ध चेतना में होती है।

8.3 पाठ प्रस्तुतीकरण :

8.3.1 विषय प्रवेश :

पाश्चात्य दर्शनशास्त्र के इतिहास में दार्शनिक चिंतन की एक मूल शाखा तत्त्वमीमांसीय चिंतन रही है। तत्त्वमीमांसकों ने तत्व के स्वरूप के संबंध में तांत्विक सत्ताओं (प्राकृतिक तत्व एवं ईश्वर) के संबंध में अनेकों उक्तियाँ दी हैं जिन्हें वे आनुभाविक वाक्यों से अधिक निश्चयात्मक मानते रहें हैं। तार्किक भाववाद तो अनुभव एवं विज्ञान पर आधारित हो अग्रसर होता है, अतः वे दार्शनिक चिंतन की तत्त्वमीमांसीय शाखा को निरर्थक प्रयत्न समझते रहे हैं। इसी कारण जब वे दर्शन का लक्ष्य ही अलग ढंग से निश्चित करते हैं, तो स्पष्टतः तत्वमीमांसा के लिए दर्शनशास्त्र में स्थान नहीं रह जाता। फलतः उनका एक लक्ष्य तत्त्वमीमांसा का निरसन हो जाता है।

8.3.2 निरसन के प्रयत्न का सामान्य रूपः

वैसे दर्शनशास्त्र के इतिहास में तत्त्वमीमांसा के निरसनका प्रयत्न होता रहा है। ह्यूम तथा कांट के प्रयत्न तो बड़े सबल सिद्ध हुए। किन्तु, तार्किक भाववाद का उन सबों से भिन्न, बिल्कुल अपनेढंग का प्रयत्न है। ह्यूम तथा कांट की आपत्तियों का आधार ज्ञानमीमांसा है, उनका मापदण्ड है **'हम क्या जान सकते हैं?** तथा अपने अपने ढंग से दोनों यही दिखाते हैं कि तात्त्विक सत्ताओं के जानने –उनके ज्ञान का कोई आधार हमारे पास उपलब्ध नहीं है। इसके विपरीत तार्किक भाववाद के द्वारा तत्त्वमीमांसा के निरसन के प्रयत्न का आधार **'हम क्या जान सकते हैं?'** नहीं है बल्कि यह है **कि हम किस बात के विषय में अर्थपूर्ण ढंग से बात कर सकते हैं?** तत्त्वमीमांसाको के विरुद्ध उनकी आपत्ति यही है कि वे ऐसी–ऐसी उक्ति देते हैं जो सभी अर्थपूर्ण भाषा के मापदंड का हनन करते हैं, उसके विपरीत है। इस प्रकार उनके अनुसार **तत्त्वमीमांसा के निरसन में मात्र यही दिखा देना है कि कैसे तत्त्वमीमांसीय युक्तियां निरर्थक है।**

यही दिखलाने के उद्देश्य से इन लोगों ने अर्थपूर्णता के आधार, अर्थपूर्णता की कसौटी पर विचार किया, तथा अर्थ के सत्यापन सिद्धांत का प्रतिपादन किया। हमने देखा है कि इस सिद्धांत के अनुसार कोई कथन अर्थपूर्ण तभी होता है जब उसके अनुभव–परीक्षा की संभावना हो। यदि यही अर्थपूर्णता का आधार है तो तत्त्वमीमांसा का निरसन सरल एवं सहज हो जाता है। सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है तत्त्वमीमांसीय उक्तियाँ ऐसी उक्तियाँ हैं जिनके अनुभव–परीक्षा की कोई संभावना नहीं है। ईश्वर, आत्मा, अमरता आदि के विषय में जो भी उक्तियाँ दी जाती है,वह सभी ऐसी हैं कि उनकी अनुभव–परीक्षा तो हो ही नहीं सकती, उनके साक्षात या परोक्ष किसी प्रकार की

अनुभव परीक्षा की संभावना भी नहीं है। अतः इस प्रकार की सभी उक्तियाँ अर्थपूर्णता की कसौटी पर अर्थहीन ही सिद्ध होते हैं।

कुछ इसी प्रकार का विचार तार्किक भाववादी विचारकों के द्वारा किया गया तत्त्वमीमांसा–निरसन के मूल में है, किन–किन लोगों ने अपने इस निरसन के प्रयत्न को बड़े रुचिकर ढंग से प्रतिष्ठित किया है। इन प्रयत्नों में एक बात बड़ा ही स्पष्ट है। इन लोगों ने तांत्त्विक सत्ता को स्वीकारा नहीं है। किंतु इन लोगों ने उसे नकारा भी नहीं है। इनके अनुसार तात्विक सत्ताओं के संबंध में यह कहना कि 'वह है' या कहना कि 'वह नहीं है' दोनों अर्थहीन है। इनके अनुसार अनुभवातीत तांत्त्विक संस्थाओं के संबंध में कोई अर्थपूर्ण उक्ति दी ही नहीं जा सकती। इसे सिद्ध करने में 'एयर' कामत बड़ा प्रसिद्ध हुआ है, किंतु उसका उल्लेख तो हम अलग से ही करेंगे। यहां हम मूलतः कार्नैप के विचारों का अनुशीलन करेंगे।

कर्नैप के द्वारा तत्वमीमांसा–निरसनः

कार्नैप का कहना है कि जब वे लोग तत्त्वमीमांसीय कथनों को अर्थहीन कहते हैं, तब वे लोग 'अर्थहीनता' शब्द का व्यवहार उसके पूर्णतया सही अर्थ में कर रहे हैं।ढीले अर्थ में भी इस शब्द का व्यवहार होता है। जैसे हम कहते हैं, 'वियना शहर के वैसे निवासी','जिनका टेलीफोन नंबर '3' से समाप्त होता है, उनका औसत वजन 70 किलो है, या '1910 में वियना की आबादी कुल 6 थी' या 'क' एवं 'ख' एक दूसरे से एक–एक वर्ष बड़े हैं', आदि। ढीले अर्थ में हम कहा करते हैं कि ये सभी बातें अर्थहीन है। यथार्थतः इनमें से कोई कथन सही अर्थ में अर्थहीन नहीं है– पहला बेतुका है, दूसरा स्पष्टतः असत्य है, तीसरा आत्मव्याघातक है। बेतुका, असत्य, आत्म–व्याघातक कथन कहते हैं तो ऐसे ढीले–ढाले अर्थ में नहीं। वे यह नहीं कहना चाहते कि वे उस प्रकार के कथन बेतुके हैं, या असत्य हैं या आत्म–व्याघातक हैं। सही अर्थ में तत्त्वमीमांसीय कथनों को अर्थहीन इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि वस्तुतः वे छद्म कथन हैं। कार्नैप का दावा है कि विश्लेषण के द्वारा स्पष्टतः इन कथनों का छद्म–रूप उजागर कर सकते हैं। यही प्रयत्न उनका तत्त्वमीमांसा–निरसन–प्रयत्न है।

पहले भी हमने कहा है कि कार्नैप के अनुसार भाषा के अंग होते हैं–**शब्द भंडार** तथा **वाक्य विन्यास**, वाक्य अर्थपूर्ण तब होते हैं जब उनमें अर्थपूर्ण शब्दों को उनके वाक्य विन्यास के अनुरूप (अर्थात उन शब्दों को एक दूसरे से संबंधित करने के तार्किक नियमों के अनुरूप) जोड़ा जाए। अतः दो प्रकार के छद्म–वाक्य उत्पन्न हो सकते हैं। या तो उन्हें व्यवहृत शब्द ही छद्म शब्द हो, अर्थात वे देखने में तो शब्द जैसे दिखे, किंतु उनसे कोई अर्थ सूचित ना हो।छद्म–वाक्यों के उत्पन्न होने का दूसरा ढंग है कि वाक्य में व्यावहृत सभी शब्द अपने अर्थपूर्ण हैं। किंतु उनका वाक्य–विन्यास गलत हो– अर्थात उन शब्दों को एक दूसरे से जोड़ने में, उनके जुड़ने के नियमों का उल्लंघन हुआ है।

पहले विकल्प की व्याख्या करते हुए कार्नैप कहते हैं कि हर अर्थपूर्ण शब्द से एक अवधारणा सूचित होती है। यह ठीक है कि प्रारंभ में हर शब्द का अर्थ निर्धारित हो जाता है, किंतु ऐसा होता है कि कालिक विकास से उसका वह अर्थ उससे अलग हो जाए, तथा उस शब्द में कोई नया अर्थ नहीं जुड़े। यह भी हो सकता है कि हम कुछ शब्दों का व्यवहार बिना यह देखे करें कि उससे कोई अवधारणा बनती है या नहीं। उदाहरणतः 'बंध्यापुत्र', 'आकाश–कुसुम' जैसे शब्दों को लें। इनसे कोई अवधारणा नहीं बनती, इनसे कोई अर्थ सूचित नहीं होता। फलतः, ये शब्द जैसे दिखाई अवश्य देते ं हैं, किंतु वस्तुतः ये शब्द है ही नहीं। ये छद्म– शब्द हैं। जिस वाक्य में इस प्रकार के शब्द रहेंगे, वह वाक्य अर्थपूर्ण नहीं हो सकता।

कार्नैप दूसरे विकल्प की विशद व्याख्या करते हैं। उनकी व्याख्या का सारांश यहां प्रस्तुत है। इन सद्गुणों उदाहरणों को देखें,'ईमानदारी गेम खेलती है,'पंचम जार्ज सद्गुण का वर्गमूल है''सीजर मूल संख्या है'इन सभी उदाहरणों में व्यावहृत सभी शब्द अपने में अर्थपूर्ण हैं। किंतु इनको एक दूसरे से संबंधित करने में **तार्किक वाक्यविन्यास** के नियमों का उल्लंघन हुआ है। यह ठीक है कि व्याकरण की दृष्टि से भी इन वाक्यों में कोई दोष नहीं है। किंतु **व्याकरण के वाक्य–विन्यास के नियम** तथा **तार्किक वाक्य विन्यास नियम** एक दूसरे से भिन्न हैं। तार्किक वाक्य–विन्यास की यह मांग है कि हर शब्द की अपनी तार्किक–शक्ति होती है जिसके फलस्वरूप वह किसी शब्द के ही साथ संबंधित हो सकता है, अन्य के साथ नहीं।'सीजर' शब्द तथा 'मूल–संख्या' शब्द की तार्किक शक्तियाँ एक दूसरे के अनुरूप नहीं। उन्हें एक साथ जोड़ने के प्रयास में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन भले ना हुआ हो, तार्किक वाक्य विन्यास के नियमों का उल्लंघन होता है। उसी प्रकार 'ईमानदारी' तथा 'गेम खेलना' और दूसरे वाक्य में 'पंचम जार्ज''वर्गमूल''सद्गुण' सभी शब्दों के व्यवहार के संदर्भ अलग–अलग हैं। उनमें निहित तार्किक शक्तियां एक दूसरे के अनुरूप नहीं है। फलतः यदि इन्हें एक–दूसरे के साथ जोड़ा जाय तो कोई अर्थपूर्ण स्थापना नहीं बनेगी। यही कारण है कि ऊपर के तीनों वाक्य छद्म–कथन हैं, उनमें व्यवहृत शब्द के अर्थपूर्ण होते हुए भी वे कोई अर्थ सूचित नहीं करते।

यहाँ विचारणीय बात यह है कि दोनों प्रकार के उदाहरणों की अर्थहीनत स्पष्ट करने में कार्नैप अपने मूल स्वानुभवमुलक वाक्य का हवाला देते हैं। उन्होंने व्याख्या करयह दिखया कि सभी वाक्य अर्थहीन है क्योंकि इन वाक्यों के विश्लेषण के मूल में कोई **स्वानुभवमूलक**वाक्य नहीं प्राप्त होता। अतः अन्ततः यहाँ भी अपने अर्थ के सत्यापन या परीक्षणीयता सिद्धांत पर ही निर्भर हैं। ये दोनों प्रकार में वाक्य अर्थहीन हैंक्योंकि इन वाक्यों के अनुभव में सत्यापन का कोई आधार नहीं है। पहले प्रकार के शब्द ही कोई आनुभविक निर्देश नहीं दे सकते, दूसरे प्रकार के वाक्य में वाक्य–विन्यास कुछ इस प्रकार का है कि उसके आनुभविक सत्यापन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। तो निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कार्नैप के अनुसार वाक्य अर्थहीन तब होते हैं, जब या तो उसमें व्यावहृत शब्द से ही कोई अर्थ सूचित ना हो, या वाक्य का तार्किक वाक्य–विन्यास अयुक्त हो,

अर्थात शब्दों के अर्थपूर्ण रहते हुए भी वाक्य में उन शब्दों को ऐसे अयुक्त ढंग से जोड़ा गया हो कि वे अर्थहीन हो जायें।

कार्नैप ने दिखाया है कि तत्त्वमीमांसा के कथन में प्रायः इन्हीं दो प्रकार के वाक्य रहते हैं। अपने तत्त्वमीमांसा निरसनप्रयत्न में उन्होंने दिखाया है कि तत्त्वमीमांसा के अधिकतर कथन ऐसे हैं जिनमें व्यावहृत शब्द अपने में तो अर्थपूर्ण प्रतीत होते हैं, किन्तु उन्हें वाक्यों में व्यक्त करने में उन शब्दों में निहित तार्किक शक्तियों की पूर्ण उपेक्षा की गई है, जिसके कारण उन वाक्यों का तार्किक वाक्य–विन्यास अयुक्त हो गया है, जिसके चलते वे वाक्य नहीं रहते, बल्कि छद्म–कथन बन जाते हैं।तत्त्वमीमांसा ऐसे ही छद्म कथनों से भरी है।

अब हम कार्नैप के इस तत्त्वमीमांसा निरसन प्रयत्न को कुछ उदाहरणों से स्पष्ट करने का प्रयत्न करें। कार्नैप ने 'सत्–भाव' तथा 'ईश्वर' जैसे शब्दों का उदाहरण लिया है।'ईश्वर' शब्द का पौराणिक अर्थ शायद कुछ हो भी किंतु तात्त्विक संदर्भ में जब 'ईश्वर' शब्द का व्यवहार होता है, तो उससे कोई अवधारणा नहीं बन पाती, कोई अर्थ सूचित नहीं हो पाता। ईश्वर शब्द के तात्त्विक अर्थ को स्पष्ट करने में या तो अन्य तात्त्विक शब्दों का उपयोग होता है, अथवा ऐसे विवरणों का उपयोग होता है जो विश्लेषण से छद्म–विवरण प्रतीत होते हैं। किसी भी रूप में इस शब्द का आधार कोई ऐसा स्वानुभवमूलक वाक्य नहीं मिल पाता जिससे इसकी अवधारणा बन सके। इसका कहीं आनुभविक आधार नहीं मिल पाता। अतः इससे कोई अर्थ सूचित नहीं होता। इसी कारण 'ईश्वर' शब्द वाले वाक्यों को अर्थहीन ही मानना पड़ता है। कार्नैप ऐसे अनेकोंतात्त्विक शब्दों का उदाहरण देते हैं, जैसे 'निरपेक्ष सत्', 'अनंत', 'आत्मा', 'अपने.... में वस्तु','सार भाव','शून्यताभाव'आदि आदि। उनका कहना है कि इन शब्दों से कोई अर्थ सूचित नहीं होता, अतः वैसे तत्त्वमीमांसीय कथन जिनमें इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार होता है अर्थहीन ही हैं।

कार्नैप का कहना है कि अधिकतर तत्त्वमीमांसीय वाक्य दूसरे प्रकार के वाक्य हैं जिनकी अर्थहीनता इस कारण है कि उसमें तार्किक वाक्य–विन्यास के नियमों की उपेक्षा हुई है। इसके उदाहरण के रूप में कार्नैपने **हाइडेगर** के तत्त्व दर्शन के कुछ मूल वाक्यों का उदाहरण लेते हुए दिखाया कि नथिंग शब्द का यहां संज्ञा के समान प्रयोग हुआ है, वह भी इस प्रकार कि वह एक नाम बन जाता है तथा किसी तत्त्व को सूचित करता है। किंतु तार्किक दृष्टि से निषेध एक तार्किक रूप है, नाम नहीं।अतः नाम के समान इसका व्यवहार ही इसकी तार्किक शक्ति की उपेक्षा है। अब इन बातों को देखें *'नथिंग इज प्रियर टू द नॉट एंड निगेशन'* या 'विनोद नथिंग' स्पष्ट है कि यह दोनों वाक्य 'सीजर एक मूल संख्या है' जैसा वाक्य है। यहां 'नॉट''निगेशन' सब का व्यवहार संज्ञा रूप में हुआ है, तथा 'नथिंग' की संज्ञा–रूप को इन दोनों से पहले (प्रियर टू) कहा जा रहा है। स्पष्ट है कि इन शब्दों को अयुक्त ढंग से जोड़ा जा रहा है, जबकि इनकी तार्किक शक्तियाँ इस प्रकार के जोड़ने के प्रतिकूल हैं। अतः ये वाक्य कोई अर्थ सूचित नहीं करते। यही कारण है कि यदि हम यह खोजना चाहे वह कौन–सा मूल स्वानुभवमूलक वाक्य है जिनके द्वारा इन वाक्यों की

सत्यता–असत्यता निर्धारित होगी तो ऐसा कोई वाक्य नहीं मिल पाएगा। अतः स्वीकारना पड़ता है कि इन वाक्यों से कोई अर्थ सूचित नहीं होता।

कार्नैप के विरुद्ध इस स्थल पर कहा जा सकता है कि उन्होंने अपनी सुविधा के लिए ऐसे उदाहरण का चयन किया है जिसके विरुद्ध आपत्ति उठाना सरल हो। किंतु इस उदाहरण के आधार पर सभी तात्त्विक कथनों को अर्थहीन कहना युक्तिसंगत नहीं है। किंतु कार्नैप को इस प्रकार की आपत्ति की अवगति थी। उनका कहना है कि जिस विधि से ऊपर के तात्त्विक कथनों को अर्थहीनता स्पष्ट की जा रही है, उसी विधि से सभी प्रकार के तात्त्विक कथनों की अर्थहीनता स्पष्ट की जा सकती है। हेगेल की तत्त्वमीमांसीय उक्तियाँ भी हाइडेगर की उक्तियाँ जैसी ही है।कार्नैप ने दिखया है कि सभी तत्त्व–दार्शनिकों ने कुछ मौलिक गलतियां की हैं जिनसे तार्किक वाक्य विन्यास के नियम स्पष्टतः खंडित हो जाते हैं।

उदाहरणतः सभी तत्व दार्शनिक 'है' शब्द के व्यवहार में व्यामिश्र करते हैं। एक अर्थ में 'है' का प्रयोग संयोजक के रूप में होता है,(जैसे मैं मरता हूं) तो कभी–कभी यह अस्तित्वसूचक बन जाता है (जैसे–मैं हूँ)। अतः (ईश्वर है)'मैं हूँ' वाक्यों का प्रयोग तत्त्व दर्शन में अस्तित्व–सूचक अर्थ में किया जाता है, जबकि 'है' शब्द की तार्किकता अस्तित्व–सूचक नहीं है। यही कारण है कि 'ईश्वर है' या 'मैं हूँ' जैसे वाक्यों का अनुभव मूलक आधार प्राप्त नहीं होता। कार ने डेकार्ट के 'सोचता हूँ, इसलिए हूँ' का भी विश्लेषण कर दिखाया कि इसमें भी तार्किक वाक्य विन्यास का उल्लंघन हुआ है, जिसके फलस्वरूप इससे भी कोई वास्तविक अर्थ सूचित नहीं होता– यह भी छद्म–कथन बन जाता है। इस वाक्य में दो प्रकार से वाक्य–विन्यास नियम का उल्लंघन हुआ है। इस वाक्य में एक स्थापना है– 'मैं हूँ' जिसका अर्थ बताया जाता है कि 'मैं रूप आत्मा का अस्तित्व स्थापित हो रहा है' किंतु तार्किक दृष्टि से **'अस्तित्व'**किसी नाम के साथ नहीं जुड़ सकता,अस्तित्व सदा किसी विशेष के साथ ही जोड़ा जा सकता है, अपने में यह विधेय नहीं है। इस नियम की यहाँ उपेक्षा हुई है।वस्तुतः अस्तित्व–सूचक वाक्य 'मैं हूँ''वह है' जैसा नहीं होता, उन वाक्यों का तार्किक रूप है –'कुछ ऐसा है– जो इस प्रकार का है'। इस रूप में इसका आनुभविक आधार स्पष्ट हो जाता है। किंतु यहां इस बात का ध्यान नहीं रखा गया।'मैं हूँ' वाक्य का ऐसा तार्किक रूप नहीं हो सकता कि 'ऐसा कुछ है जो मैं हूँ'। इस वाक्य का दूसरा दोष है कि यह 'मैं सोचता हूँ' से 'मैं हूँ' वाक्य तक तक पहुँचने की चेष्टामें भी तार्किक–वाक्य–विन्यास–नियमों की उपेक्षा करते हैं। तार्किक ढंग यह है कि यह किसी सामान्य वाक्य 'क में प गुण है' से किसी अस्तित्वसूचक कथन को निकालते हैं, तो अस्तित्व का आरोपण विधेय 'प' पर हो सकता है। उद्देश्य 'क' पर नहीं हो सकता। जब हम कहते हैं कि 'मैं भारतीय हूँ', तो इस वाक्य से 'मैं हूँ' नहीं स्थापित होता, बल्कि 'एक व्यक्ति है जो भारतीय है' स्थापित होता है। अतः 'मैं सोचता हूँ' से अधिक से अधिक यह वाक्य निकल सकता है कि 'एक व्यक्ति है जो सोचता है' इसमें 'मैं हूँ' स्थापित नहीं होता। स्पष्ट है 'एक व्यक्ति है जो सोचता है' को

अनुभवमूलक वाक्य में रूपांतरित किया जा सकता है, किंतु 'मैं हूँ' वाक्य का रूपांतरण संभव नहीं है। अतः 'मैं सोचता हूँइसलिए हूँ' वाक्य भी वस्तुतः अर्थहीन प्रतीत होता है।

तात्त्विक कथनों में एक भूल प्रायः दिखाई देती है, जो भावों या अवधारणाओं के प्रारूप–भेद की उपेक्षा से उत्पन्न होती है। **'सीजर एक मूल संख्या है'** इस वाक्य में 'व्यक्ति का नाम' तथा 'संख्या का नाम' दो प्रकार की–दो प्रारूप की उक्तियाँ हैं, किन्तु इस वाक्य में मिलावट कर दी गई गयी है, इसके कारण वह वाक्य अर्थहीन हो जाता है।हेगेल तथा हाइडेगर के लेखों में इस प्रकार की मिलावट के उदाहरण भरे पड़े हैं। ऐसे विधेय जो किसी विशेष प्रकार की उद्देश्यों पर लगाए जा सकते हैं,अकारण ऐसे उद्देश्यों से जोड़ दिए जाते हैं जिस पर वे नहीं लगाए जा सकते। 'सत् बौद्धिक है'–इसी प्रकार का उदाहरण है। फलतः इन वाक्यों से कोई अर्थ सूचित नहीं होता।

निष्कर्षतः विटगेन्सटीन का हवाला देते हुए कार्नेप कहते हैं कि अर्थपूर्ण निम्नलिखित प्रकार के होते हैं। प्रथमतः तो इसके अंतर्गत वे कथन आते हैं जो मात्र अपने आकार या रूप के चलते ही सदा सत्य हैं। वे सत् के संबंध में कोई उक्ति नहीं देते। ऐसे वाक्यों को विटगेन्सटीन पुनरुक्ति कहते हैं, और कांट पूर्णतया विश्लेषणात्मक निर्णय कहते हैं। तर्कशास्त्र एवं गणित के कथन इसके अंतर्गत आते हैं। दूसरे प्रकार के अर्थपूर्ण वाक्य वह हैं जो अपने रूप के अनुरूप ही सदा असत्य हैं। इन्हें व्याघात कहा जाता है। इन दोनों के अतिरिक्त जो अर्थपूर्ण कथन हैं वे या तो सत्य होते हैं या असत्य तथा, उनकी सत्यता–असत्यता स्वानुभवमूलक वाक्यों से निर्धारित होती है। इन तीन प्रकार के कथनों के अतिरिक्त जो भी कथन दिया जाएगा वह अर्थहीन होगा, क्योंकि अर्थपूर्ण कथन मात्र इन तीनों प्रकार के हैं। अब तत्त्व मीमांसीय कथन इन तीनों में किसी के अंतर्गत नहीं आते। तत्त्व मीमांसक स्वयं इन कथनों कोपुनरुक्ति या व्याघात के अंतर्गत नहीं रखते। ये कथन आनुभविक कथन भी नहीं हैं, क्योंकि इनकी सत्यता–असत्यता स्वानुभवमूलक वाक्यों से निर्धारित नहीं होती। अतः तत्त्व मीमांसीय कथन अर्थपूर्ण कथनों के अंतर्गत नहीं आते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तार्किक भाववाद में तत्त्व मीमांसा का निरसन यह दिखाकर किया गया है कि तत्त्व मीमांसीय कथन अर्थहीन हैं।

8.4 सारांश

दर्शनशास्त्र के इतिहास में तत्त्वमीमांसा के निरसन के प्रयत्न में तार्किक भाववाद का प्रयास, बिल्कुल अपने ढंग का प्रयत्न है। तार्किक भाववाद के द्वारा तत्त्वमीमांसा के निरसन के प्रयत्न का आधार 'हम क्या जान सकते हैं?' नहीं है बल्कि यह है कि हम किस बात के विषय में अर्थपूर्ण ढंग से बात कर सकते हैं?यही दिखलाने के उद्देश्य से इन लोगों ने अर्थपूर्णता के आधार, अर्थपूर्णता की कसौटी पर विचार किया, तथा अर्थ के सत्यापन सिद्धांत का प्रतिपादन किया। कार्नेप का दावा है कि विश्लेषण के द्वारा स्पष्टतः तत्त्वमीमांसा कथनों का छद्म–रूप उजागर कर सकते हैं। हम देखते हैं कि तार्किक भाववाद में तत्त्वमीमांसा का निरसन यह दिखाकर किया गया है कि तत्त्वमीमांसीय कथन अर्थहीन हैं।

8.5 शब्दार्थ सूची

तत्त्वमीमांसा	–	अध्यात्मविज्ञान
सत्यापन	–	जाँच
छद्म	–	मिथ्या, आभासी, कूट
अवधारणा	–	संकल्पना
सत्	–	अस्तित्व
सार	–	तत्त्व
शून्यताभाव	–	कुछ नहीं
पुनरुक्ति	–	दुहराव
व्याघात	–	परस्पर विरोध

8.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. कार्नैप रुडोल्फ : फिलोसिफिकल एण्ड लॉजिकल सिन्टेक्स, केन पॉल, लंडन, 1935.
2. विटगेन्सटीन, ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसफी
3. विटगेन्सटीन, फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशन, मैकमिलन न्यू यार्क, 1953
4. कार्नैप रुडोल्फः मीनिंग एण्ड नेसेस्टी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1947.
5. प्रो0 बी के लालः समकालीन पाश्चात्य दर्शन
6. प्रो0 लक्ष्मी सक्सेनाः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

8.7 बोध प्रश्न

1. तत्त्वमीमांसीय निरसन के प्रयत्न का संक्षिप्त परिचय दें?
2. तत्त्वमीमांसीय निरसन से जुड़े प्रमुख दार्शनिकों के नाम बतायें?
3. तत्त्वमीमांसीय निरसन का सामान्य स्वरूप एवं लक्ष्य क्या है?
4. तत्त्वमीमांसीय निरसन का अर्थ स्पष्ट करें।
5. छद्म–कथन से आप क्या समझते है?
6. वाक्य विन्यास के नियम की संक्षिप्त व्याख्या करें।

दीर्घ उत्तरीय :

1. तार्किक भाववाद केतत्त्वमीमांसीय निरसन विधि से आप क्या समझते हैं?
2. तर्किक वाक्य विन्यास नियम से तार्किक भाववादियों का क्या आशय है?
3. कार्नैप के तत्त्वमीमांसीय निरसन के स्वरूप का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

....000...

इकाई– 09 दर्शन का कार्य

इकाई की रूपरेखा

9.1 उद्देश्य

9.2 प्रस्तावना

9.3 पाठ प्रस्तुतीकरण

- 9.3.1 विषय प्रवेश
- 9.3.2 दर्शन का भावात्मक कार्य के सामान्य विवरण
- 9.3.3 तार्किक आदर्श भाषा
- 9.3.4 तार्किक विश्लेषण
- 9.3.5 वाक्क्रिया का विषयिक तथा आकारिक ढंग
- 9.3.6 इस भेद के उदाहरण
- 9.3.7 विश्लेषण कैसे होता है
- 9.3.8 विज्ञान की एकता में दर्शन का योगदान

9.4 सारांश

9.5 शब्दार्थ सूची

9.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

9.7 सम्बन्धित प्रश्न

9.1 उद्देश्य

इस खण्ड का अध्ययन करने के पश्चात आप निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने में सक्षम होंगे :

- दर्शन का भावात्मक कार्य के सामान्य विवरणको जानने में।
- तार्किक आदर्श भाषाको जानने में।
- तार्किक विश्लेषण को जानने में।
- वाक्क्रिया का विषयिक तथा आकारिक ढंग को जानने में।
- वाक्क्रिय भेद के उदाहरण को जानने में।
- विश्लेषण कैसे होता है को जानने में।
- विज्ञान की एकता में दर्शन का योगदान।

9.2 प्रस्तावना

तत्त्वमीमांसा का निरसन के साथ–साथ तार्किक भाववाद के सामने एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हो जाता है। अभी तक का दर्शनशास्त्र सामान्यतः तत्त्वमीमांसीय चिंतन करता रहा है। यदि यह चिंतन निरर्थक सिद्ध होता है, तो प्रश्न उठता है कि क्या दर्शनशास्त्र को अपनी दुकान बंद कर देनी है। अब दर्शनशास्त्र किस प्रकार का चिंतन करने में सक्षम सिद्ध हो सकता है। दर्शन का भावात्मक कार्य क्या हो सकता है? तार्किक भाववादियों का उत्तर है कि दर्शन के पास एक कार्य है जो वह अर्थपूर्ण ढंग से कर सकता है, क्योंकि इस विचारधारा ने उसे इस कार्य के करने के लिए एक विधि दी है। वह विधि है तार्किक विश्लेषण की विधि।

9.3 पाठ प्रस्तुतीकरण :

9.3.1 विषय प्रवेश :

तार्किक भाववाद के अनुसार यदि सभी सूचना देनेवाले कथन या ज्ञानात्मक वाक्य आनुभविक है तथा तथ्यात्मक विज्ञान के अंग है, तो फिर दर्शन के लिए क्या बच जाता है, वह कौन सा कार्य कर पायेगा। तार्किक भाववादियों ने स्वयं इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर भी दिया है, उनका उत्तर है दर्शन के पास एक कार्य है जो वह अर्थपूर्ण ढंग से कर सकता है, क्योंकि इस विचारधारा ने उसे इस कार्य के करने के लिए एक विधि भी दी है। वह विधि है, **तार्किक विश्लेषण की विधि।** वस्तुतः इस विधि के उपयोग का एक **निषेधात्मक** पक्ष है, तथा एक **भावनात्मक** पक्ष है। निषेधात्मक, कार्य में इस विधि की उपयोगिता 'तत्त्वमीमांसीय–निरसन–प्रयत्न' में स्पष्ट होती है। इस विधि के उपयोग से यह पता लग जाता है कि कौन–से कथन छद्म–कथन हैं या अर्थहीन हैं। पाश्चात्य दर्शन एक ऐसे मोड़ पर आ गया था कि इस विधि के निषेधात्मक प्रयोग की अनिवार्यता स्पष्ट हो गई थी, यह समझ लेना अनिवार्य हो गया था कि दर्शन अर्थहीन छद्म–कथनों में उलझा रहा है। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं है कि इस विधि का केवल निषेधात्मक उपयोग ही हो सकता है। अपने भावात्मक उपयोग में यह अर्थपूर्ण वाक्यों, भावों, कथनों का विश्लेषण कर सकता है। अर्थपूर्ण कथन अर्थपूर्ण होते हुए भी भ्रांति उत्पन्न कर सकते हैं, क्योंकि बहुधा वे अस्पष्ट तथा अनेकार्थक होते हैं। उनकी स्पष्टता तथा अनेकार्थकता का विश्लेषण उन कथनों के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट कर किया जा सकता है।

9.3.2 दर्शन का भावात्मक कार्य सामान्य विवरण

तत्त्वमीमांसा का निरसन के साथ–साथ तार्किक भाववाद के सामने एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हो जाता है। अभी तक का दर्शनशास्त्र सामान्यतः तत्त्वमीमांसीय चिंतन करता रहा है। यदि यह चिंतन निरर्थक सिद्ध होता है, तो प्रश्न उठता है कि क्या दर्शनशास्त्र को अपनी दुकान बंद कर देनी है। अब दर्शनशास्त्र किस प्रकार का चिंतन करने में सक्षम सिद्ध हो सकता है। दर्शन का

भावात्मक कार्य क्या हो सकता है? कार्नैप ने स्वयं यह प्रश्न उठाया है, उनका प्रश्न यह है कि यदि सभी सूचना देनेवाले कथन या ज्ञानात्मक वाक्य आनुभविक है तथा तथ्यात्मक विज्ञान के अंग है, तो फिर दर्शन के लिए क्या बच जाता है, वह कौन सा कार्य कर पायेगा। कार्नैप ने स्वयं इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर भी दिया है, उनका उत्तर है दर्शन के पास एक कार्य है जो वह अर्थपूर्ण ढंग से कर सकता है, क्योंकि इस विचारधारा ने उसे इस कार्य के करने के लिए एक विधि भी दी है। वह विधि है, **तार्किक विश्लेषण की विधि**। वस्तुतः इस विधि के उपयोग का एक **निषेधात्मक** पक्ष है, तथा एक **भावनात्मक** पक्ष है। निषेधात्मक, कार्य में इस विधि की उपयोगिता 'तत्त्वमीमांसीय–निरसन–प्रयत्न' में स्पष्ट होती है। इस विधि के उपयोग से यह पता लग जाता है कि कौन–से कथन छद्म–कथन हैं या अर्थहीन हैं। पाश्चात्य दर्शन एक ऐसे मोड़ पर आ गया था कि इस विधि के निषेधात्मक प्रयोग की अनिवार्यता स्पष्ट हो गई थी, यह समझ लेना अनिवार्य हो गया था कि दर्शन अर्थहीन छद्म–कथनों में उलझा रहा है। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं है कि इस विधि का केवल निषेधात्मक उपयोग ही हो सकता है। अपने भावात्मक उपयोग में यह अर्थपूर्ण वाक्यों, भावों, कथनों का विश्लेषण कर सकता है। अर्थपूर्ण कथन अर्थपूर्ण होते हुए भी भ्रांति उत्पन्न कर सकते हैं,क्योंकि बहुधा वे अस्पष्ट तथा अनेकार्थक होते हैं। उनकी स्पष्टता तथा अनेकार्थकता का विश्लेषण उन कथनों के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट कर किया जा सकता है।

अब दो प्रश्न उठते हैं, एक तो यह कि दर्शनशास्त्र को इस प्रकार की अर्थपूर्ण–उक्तियाँ उपलब्ध कहां से होगी, तथा दूसरा कि इस विश्लेषणका निश्चित ढंग क्या होगा।

पहले प्रश्न का, तार्किक भाववाद का सामान्य उत्तर यह है कि इस प्रकार की उक्तियाँ तो अनुभवातीत जगत से नहीं प्राप्त हो सकतीं, क्योंकि तार्किक विश्लेषण से ही यह स्पष्ट है कि अनुभवातीत जगत से संबंधित उक्तियाँछद्म–कथन हैं, अर्थहीन हैं। तोतार्किकविश्लेषण के लिए कथन अनुभव–जगत से ही उपलब्ध होंगे। किन्तु अनुभव जगत–संबंधी अर्थपूर्ण कथन तो वैज्ञानिक कथन हैं। अतः तार्किक भाववाद का कहना है कि तार्किक विश्लेषण के लिए सामग्री विज्ञान से उपलब्ध होती है। एक दृष्टि से दर्शन–शास्त्र को विज्ञान का तर्कशास्त्र कहा जा सकता है।

इस प्रकार दो बातें स्पष्ट होती है –एक तो यह कि दर्शन का क्षेत्र 'सत्' नहीं है, यह वस्तुओं तथा तत्त्वों के विषय में सीधे कोई उक्ति नहीं दे सकता। वैसी उक्ति विज्ञान दे सकता है, दर्शन नहीं। तो दर्शन का संबंध उक्तियों से है, कथनों से है, वह भी ऐसे कथनों से जो विज्ञान में उपलब्ध है। दूसरी बात यह भी स्पष्ट होती है कि दर्शन विज्ञान का अनुगामी हो जाता है। विज्ञान के द्वारा दिए गए प्राथमिक कथनों–ऐसे कथनों को जो विज्ञान तत्त्वों तथा वस्तुओं के विषय में देता है, तथा जिसका आनुभविक आधार होता है–विश्लेषण कर सकता है। यही कारण है कि विश्लेषणात्मक परंपरा के सभी विचारक दर्शन को **द्वितीय स्तरीय अन्वेषण** कहते हैं। इसी कारण तार्किक भाववादी विचारकों ने कहा कि दर्शन का कार्य **'तार्किक विश्लेषण'** है। उन लोगों ने तार्किक शब्द का व्यवहार समझ–बूझ कर किया है। इस तार्किक विश्लेषण में वैज्ञानिक उक्तियाँ तथा

साधारण सामान्य जीवन के कथनों का विश्लेषण होता है, तथा यह विश्लेषण तार्किक इस कारण कहा गया है कि इसका लक्ष्य मात्र कथनों का उनके भाषीय रूपों के विश्लेषण के आधार पर स्पष्टीकरण है।

इसी आधार पर ऊपर उठाए गए दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है। तार्किक भाववाद के अनुसार दर्शन का कार्य विज्ञान की भाषा का अथवा हर प्रकार के आनुभविक तथा गणितीय कथनों का तार्किक विश्लेषण है। फलतःदार्शनिक स्थापनायेंभाषीय वाक्य–विन्यास से संबंधित है।

भाषीय तार्किक वाक्य–विन्यास की व्याख्या करते हुए कार्नैप कहते हैं कि एक प्रकार से यह भाषा का आकारिक सिद्धांत है। 'आकारिक, अन्वेषण का अर्थ है कि ऐसे अन्वेषण में किसी शब्द के अर्थ पर ध्यान नहीं देना है, बल्कि केवल उनके स्वरूप तथा उनके आपस में संबंधित होने के क्रम तथा व्यवस्था पर ध्यान देना है। कार्नैपका विश्वास है कि विश्लेषण का यह ढंग विश्लेषण को सीमित भी नहीं करता क्योंकि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, ऐसी अनेकों युक्तियां हैं जिनका तार्किक रूपांतरण आकारिक उक्तियों में संभव है।

इसे और स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि भाषीय वाक्य विन्यास भाषीय उक्ति से संबंधित नहीं है, बल्कि भाषीय प्रयोग के जो नियम है उनकी व्यवस्था से संबंधित है। इस प्रकार से देखने पर भाषीय–व्यवस्था के दो प्रकार के नियम प्रकाश में आते हैं, एक को **वाक्य–निर्माण–नियम** तथा दूसरे को **वाक्यांतरण नियम** कहा गया है।

'वाक्य–निर्माण नियम' के अंतर्गत वे नियम आते हैं जिनके अनुसार किसी भी भाषीय व्यवस्था में 'स' में विभिन्न भाषीयप्रतीकों अथवा शब्दों को एक दूसरे के साथ जोड़ा जाता है, अर्थात इनके अंतर्गत वे नियम आते हैं जिनके आधार पर उस भाषीय व्यवस्था के वाक्यों का निर्माण होता है। वैसे ऊपर से देखने पर यह धारणा बन जा सकती है कि यहाँ व्याकरण के नियमों का उल्लेख हो रहा है। वैसी बात नहीं। यह संभव है कि कभी–कभी व्याकरण के नियम तथा वाक्य–विन्यासात्मक नियम सर्वथा एक समान हो, किंतु ऐसा नहीं भी हो सकता। कम से कम जिन स्थलों पर व्याकरण के नियम शब्दों के अर्थों पर आश्रित हो जाते हैं। वहां तो यह वाक्य विन्यासात्मक नियमों से स्वरूपतः भिन्न हो जाते हैं।

तार्किक विश्लेषण के लिए इन नियमों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण **वाक्यांतरण नियम** है। इनके अंतर्गत वाक्यों के रूपांतरण के नियम आते हैं। किसी दिये हुए वाक्यों के आधार पर हम अन्य वाक्यों का अनुमान करते हैं। इसका अर्थ है कि एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक पहुंचने का निश्चित आधार है, तथा उन्हीं नियमों पर इस प्रकार के अनुमान आश्रित हैं।

अतः हम कह सकते हैं किसी भाषीय व्यवस्था के तार्किक वाक्य विन्यास के ऊपर बताए दो अंश हैं –निर्माण संबंधी तथा वाक्यांतरण संबंधी। तार्किक विश्लेषण का अर्थ नहीं दो आधारों पर आश्रित विश्लेषण है, प्रथम वाक्य निर्माण नियमों के अनुरूप यह देखना है कि वाक्य में शब्दों का

क्रम, संबंध तथा व्यवस्था इन नियमों के अनुरूप है या नहीं, और तब वाक्यांतरण नियमों के अनुरूप यह देखना है कि किसी एक वाक्य से जिन दूसरे वाक्यों को आपदित समझा जा रहा है, वह संबंध वाक्यांतरण नियमों के अनुरूप है या नहीं। पहले कार्य में व्याकरण उपयोगी सिद्ध होता है, तथा दूसरे कार्य में तार्किक कार्य है।

जब तार्किक विश्लेषण का आधार इस प्रकार के नियम हैं, तो इसका अर्थ होता है कि इस प्रकार के विश्लेषण के आदर्श रूप में एक ऐसी भाषीय व्यवस्था हो सकती है जिसमें इन नियमों का पूर्णतया पालन हुआ है।वह आदर्श भाषा आकारिक दृष्टि से आदर्श भाषा कही जा सकती है –क्योंकि यह सर्वथा नियमानुकूल है, तथा इसमें अस्पष्ट तथा अनेकार्थकता के लिए स्थान नहीं रहता। तो अब इस आदर्श भाषा पर कुछ बात कर लें।

9.3.3 तार्किक आदर्श भाषा

जैसा ऊपर कहा गया है, तार्किक भाववादी विचारकों की मान्यता है कि सिद्धांततः तार्किक दृष्टि से एक आदर्श भाषा की संभावना को स्वीकारा जा सकता है जिससे किसी प्रकार की अस्पष्टता हो ही नहीं सकती। इन विचारों ने देखा कि संपूर्ण गणिती भाषा की स्पष्टता के लिए रसेल एवं व्हाइटहेड रचित 'प्रिंसिपिया मैथमैटिका' में इस प्रकार की निश्चित एवं नियमित भाषा की रूपरेखा खींची गई है। तो इन लोगों ने सोचा की वैसी भाषा को यदि इस रूप में विस्तृत कर लिया जाय तो विज्ञान की भाषा के रूपांतरण के लिए भी उसी प्रकार की नियमनिष्ठ भाषा उपलब्ध हो जाएगी।

किन्तु इस प्रकार की विज्ञान की भाषा की संभावना स्वीकारने में एक तार्किक कठिनाई प्रकाश में आती है।उल्लेखनीय है कि विटगेन्सटीन ने इस कठिनाई को देखा था।विटगेन्सटीन के अनुसार कठिनाई यह है – कि आदर्श भाषा के संबंध में जो दार्शनिक कथन दिये जायेंगे वे तो उस भाषा के अंश नहीं होंगे, बल्कि उससे बाहर होंगे। तो इसका अर्थ हो जाता है कि दार्शनिक भाषा का रूपांतरण उस आदर्श भाषा में नहीं हो सकता, औरतब तो दार्शनिक भाषा अर्थपूर्ण कथनों की कोटि से बाहर हो जाती है।विटगेन्सटीन ने अन्ततः यह भी कह दिया कि उनके ट्रैक्टेटस के भाषीय कथन अंततः अर्थहीन ही है।

कार्नैप विटगेन्सटीन का ऋण स्वीकारते हैं, किन्तु तार्किक भाववाद के अनुरूप वे यह मानने को तैयार नहीं है कि दार्शनिक भाषा निरर्थक सिद्ध होती है। विटगेन्सटीन के विचारों के विरुद्ध विचार करते हुए कार्नैप कहते हैं कि विटगेन्सटीन की मान्यता थी कि आदर्श नियम–निष्ठ भाषा अपने वाक्य–विन्यास के संबंध में कुछ कह नहीं सकती। वह भाषा वाक्य–विन्यास की भाषा से इतर होगी। इस कारण उन्हें आदर्श भाषा से इतर भाषा को अंततः अर्थहीन मानना पड़ा। किन्तु कार्नैप का कहना है कि यदि ऐसी भाषा इतनी समृद्ध हो कि वह गणित भाषा के अनुरूप हो तो अपने वाक्य विन्यास के संबंध में भी बात कर सकती है। अतः जो तार्किक दृष्टि से आदर्श भाषा होगी उनमें वह कठिनाई नहीं आयेगी जिसका उल्लेख विटगेन्सटीन ने किया है।

अतः उनका कहना है कि तार्किक विश्लेषण का आदर्श एक ऐसी नियमनिष्ठ भाषा है जिसमें हर अर्थपूर्ण कथन का रूपांतरण हो सकता है– वह भी इस ढंग से कि दूसरे प्रकार का कथन पूर्णतया स्पष्ट हो तथा जिनमें कोई भ्रांति उत्पन्न होने का संशय ना रहे। इसका अर्थ है कि भाषा के एक ऐसे रूप को स्वीकारनाना पड़ता है जिसमें अस्पष्ट कथनों का रूपांतरण करना है। तार्किक भाववादयह स्वीकारता है कि तार्किक विश्लेषण जिस भाषा में होगा– वह एक नियमनिष्ठ निश्चित भाषा होगी जिसमें अस्पष्टता अथवा अनेकार्थकता के लिए स्थान नहीं रहेगा। इसे विभिन्न नामों से पुकारा गया है। स्पष्टतः यह भाषा साधारण भाषा नहीं हो सकती, यह एक **संरचित भाषा** है,जिसे **तार्किक भाषा** या **वैज्ञानिक भाषा** के नाम से भी कभी–कभी पुकारा गया है। इस प्रकार की भाषा को कुछ विचारको ने आदर्श भाषा के रूप में स्वीकारा है, इसका आदर्श रूप इस बात में है कि इसमें अस्पष्टता या अनेकार्थकता के लिए स्थान नहीं रह जाता।

9.3.4 तार्किक विश्लेषण

इसका अर्थ है कि दर्शन का कार्य विज्ञान के साधारण भाषीय कथनों का रूपांतरण एक ऐसी वैज्ञानिक तार्किक भाषा में करना है, जिससे उन कथनों में निहितअस्पष्ट एवं अनेकार्थकता दूर हो और साथ–साथ ऐसे कथनों का पारस्परिक संबंध भी स्पष्ट हो। यह एक प्रकार का अपचयी विश्लेषण का कार्य होगा।

इस स्थल पर कहा जा सकता है कि यह कार्य तो तार्किक अणुवाद भी करता है।रसेल नेअपनी तार्किक संरचना में साधारण सामान्य वाक्यों को– अणु वाक्य एवं आण्विक वाक्य वाली भाषा में ढालने की चेष्टा की है। हाँ, तार्किक भाववाद भी तार्किक अणुवाद जैसा ही अपचयी विश्लेषण करता है। किंतु दोनों में एक बड़ा मौलिक अंतर है। तार्किक अणुवाद में विश्लेषण का अन्त अणु–वाक्यों में होता है, जो तथ्य–निर्देश करते हैं। तार्किक भाववाद को इसमें दो बातें ऐसी दिखाई देती हैं जो उनके तार्किक भाववादी दृष्टिकोण से असंगत प्रतीत होती हैं। एक तो यह कि अणुवाक्य तथ्यों का चित्र है, अर्थात इस स्थल पर भाषीय कथन तथा तथ्य का संबंध सूचित हो रहा है। तार्किक भाववाद के अनुसार ऐसे कथन जो भाषीय कथनों एवं तथ्यों को संबंधित करते हैं छद्म कथन हैं, क्योंकि यह वाक्य 'इस अणुवाक्य से यह तथ्य चित्रित होता है' ऐसा वाक्य है जिसकी अनुभव परीक्षा संभव नहीं है।पुनःयदि तार्किक भाषा की प्रामाणिकता अन्ततः ऐसे अणुवाक्य पर है जो स्वयं भाषा से इतर किसी तत्त्व पर आधृत है, तो वह भाषा पूर्णतया तार्किक भाषा नहीं है। दर्शनशास्त्र का साक्षात संबंध तार्किक भाषा से है तथ्योंसे नहीं। ऐसी भाषा में तथ्य सूचक भाषा के लिए स्थान नहीं है। इस दृष्टि से तार्किक भाववाद का स्वनुभवमूलक वाक्य तार्किक अणुवाद के अणु–वाक्य से भिन्न है।

इसी कारण तार्किक भाववाद का कहना है कि दर्शनशास्त्र जिस प्रकार की भाषा में अपना कार्य कर सकता है, उस भाषा का साक्षात संबंध तथ्यों से नहीं है वह मात्र भाषीयउक्तियों के लक्षण तथा उनके पारस्परिक संबंधों तक ही सीमित है। यही कारण है कि कार्नैप ने स्पष्ट कहा है कि

दर्शन का कार्य सीमित है **'वैज्ञानिक भाषा के तार्किक वाक्य विन्यास'**तक अब कार्नैप के विचारों का कुछ विशदीकरण होगा –जिससे दर्शन कैसे कार्य कर सकता है– यह स्पष्ट हो जाएगा।

यहां पर एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। कार्नैप के अनुसार दर्शनशास्त्र का कार्य आनुभविक विज्ञान की भाषा के तार्किक विन्यास का विवरण एवं विश्लेषण है। इसका अर्थ हुआ कि विज्ञान की भाषा तो एक अलग भाषा हुयी, तथा दर्शनशास्त्र की भाषा उससे भिन्न भाषा होगी,जो वैज्ञानिक भाषा के विश्लेषण–विवरण के लिए उपयोग में आयेगी। इस दर्शन की भाषा विवरण दर्शन आपने से कैसे देगा? दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि विज्ञान– उदाहरणतः भौतिकी की भाषा प्रथम स्तरीय भाषा है क्योंकि यह प्रकृति तथा उसके तत्वों के विषय में स्थापनायें बनाती है। इस भाषा का विवरण–विश्लेषण दर्शन करता है। विवरण–विश्लेषण की भाषा स्पष्टतः उस प्रथम स्तरीय भाषा के विषय में है, अतः यही द्वितीय स्तर की भाषा है। अब प्रश्न है कि द्वितीय स्तर की भाषा का स्वरूप क्या होगा। इस भाषा में वाक्य कैसे बनेंगे– वाक्यों की संरचना के नियम क्या होंगे। तथा एक वाक्य को दूसरे वाक्य में रूपांतरित करने के नियम क्या होंगे। ये सभी बातें तो दर्शन की भाषा से संबंधित है। अतः यह कार्य तो दर्शन स्वयं नहीं कर सकता, इसके लिए तो एक तृतीय स्तर की भाषा की आवश्यकता होनी चाहिये।

इस आपत्ति को दो ढंग से समझा जा सकता है। एक तो यह तार्किक भाववाद के अनुसार जो कुछ भी अर्थपूर्ण ढंग से कहा जा सकता है वह तो विज्ञान कहता है। विज्ञान के बाहर जो कुछ भी कहा जाता है वह निरर्थक है। दर्शन विज्ञान की भाषा नहीं है, विज्ञान की भाषा के तार्किक विन्यास का विश्लेषण विवरण है, एक द्वितीय स्तरीय भाषा है। तो यह भी जो कुछ कहेगा वह निरर्थक होगा, क्योंकि यहविज्ञान नहीं है। इस आपत्ति का दूसरा पक्ष यह है कि दर्शन की भाषा के निर्माण नियम तथा रूपांतरण नियम आदि का कार्य तो दर्शन अपने नहीं कर पायेगा, उसे तो तृतीय स्तरीय भाषा की आवश्यकता होगी।

इस आपत्ति का दूसरा पक्ष तो बहुत सबल नहीं है। विवरण–विश्लेषण के लिए किसी तृतीय स्तर की भाषा की आवश्यकता नहीं दर्शन की भाषा के विवरण विश्लेषण के बीच किसी तृतीय स्तर की भाषा की आवश्यकता नहीं। तार्किक भाववाद स्पष्ट कह सकता है कि इन नियमों के द्वारा कार्य करना ही तो दर्शन का कार्य है। इसे विज्ञान की भाषा का विवरण–विश्लेषण करना है, तथा वह कुछ भाषीय नियमों के आधार पर ही वह करता है, वे नियम इससे बाहर नहीं हैं, इसके अंग हैं।

किंतु इस आपत्ति का पहला पक्ष बड़ा सबल है, यदि दर्शन द्वितीय स्तरीय अन्वेषण है तो यह विज्ञान नहीं है और तार्किक भाववाद की मान्यता के अनुसार अर्थपूर्ण उक्तियाँ केवल विज्ञान दे सकता है। अतः दर्शन का यह कार्य भी निरर्थक हो जायेगा।

इस आपत्ति को विटगेंस्टीन के ट्रेक्टेटस के विचार में समर्थन भी मिल जाता है। एक प्रकार से वहां विटगेंस्टीन ने स्पष्ट कहा है कि दार्शनिक उक्तियाँ अंततः निरर्थक ही सिद्ध होती है।

तार्किक भाववाद के लिए इस आपत्ति का निराकरण अनिवार्य है,अन्यथा जिससे वे दर्शन का कार्य कह रहे हैं, अंततः निरर्थक ही होगा। कार्नैप को इस आपत्ति के महत्व की अवगति है, अतः वे विटगेंस्टीन के इस विचार की आलोचना करते हुए यह दिखाते हैं कि कैसे विज्ञान की भाषा के तार्किक विन्यास का विश्लेषण विवरण निरर्थक नहीं, बल्कि उपयोगी है।

इस आपत्ति का केंद्र बिंदु इस बात पर है कि द्वितीय स्तरीय भाषा प्रथम–स्तरीय भाषा से सर्वथा भिन्न है। कार्नैप के अनुसार विटगेंस्टीन के मन में भी यही बात थी जिसके कारण उन्होंने कहा कि **आदर्श भाषा** भी अपने वाक्य–विन्यास के विषय में बात नहीं कर सकती किंतु कार्नैप ने गणित का उदाहरण लेकर यह दिखाया कि कैसे वहाँ गणिती भाषा अपने वाक्य–विन्यास के विषय में अर्थपूर्ण ढंग से बात कर सकती है। हम यहाँ उस विवरण में तो प्रवेश नहीं कर सकते यहाँ मात्र यही कह सकते हैं कि कार्नैप ने विटगेंस्टीन की आलोचना करते हुए यह दिखाया है कि **विज्ञान की भाषा में ही उसका वाक्य–विन्यास है**, अतः वाक्य–विन्यास का विवरण–विश्लेषण अवैज्ञानिक नहीं होता, निरर्थक नहीं हो सकता। आपत्तिकारक दोनों भाषाओं की भिन्नता को पूर्ण भिन्नता या सर्वथा भिन्न कह कर अनावश्यक तूल दे देते हैं। गणित के विभिन्न रूपों तथा व्यवस्थाओं से संबंधित नियम भी गणित के उतने ही आवश्यक अंग हैं जितनी गणती व्यवहार एवं उनके वास्तविक व्यापार। उसी प्रकार विज्ञान की भाषा के तार्किक विन्यास से संबंधित नियम विज्ञान तो नहीं है, किंतु अवैज्ञानिक नहीं है, बल्कि वैज्ञानिक भाषा के सही अवबोध के लिए अनिवार्य है। इस प्रकार की भाषा की संरचना की प्रेरणा तार्किक भाववाद को गणित से ही मिली है। लेकिन इन लोगों के अनुसार वह भाषा पूर्णतया गणिती भी नहीं हो सकती, क्योंकि इसका संबंध भौतिक, जीव विज्ञान आदि सभी विज्ञानों से है। अतः कार्नैप का कहना है कि विज्ञान की भाषा के तार्किक वाक्य–विन्यास, विवरण–विन्यास, विवरण–विश्लेषण अर्थहीन कथनों का ढेर नहीं है, उसके विपरीत यह, अर्थपूर्ण कथनों को और अधिक निश्चित तथा स्पष्ट बनाने का प्रयत्न है। यही कारण है कि कार्नैप ने दर्शन को **विज्ञान का तर्कशास्त्र** कहा है। विज्ञान का तर्कशास्त्र अपने तार्किक वाक्य–विन्यास का निर्देश कर सकता है।

इतना तो स्पष्ट हो गया कि कार्नैप के अनुसार दर्शन का कार्य विज्ञान की भाषा को अधिक स्पष्ट करना है तथा उसके भाषीय कथनों के पारस्परिक संबंधों को स्पष्ट करना है। यह भी स्थापित हो गया कि यह कार्य तभी संपन्न हो सकता है जब इन कथनों को एक ऐसे आदर्श तार्किक भाषीय कथनों में रूपांतरित किया जा सके जहां तार्किक वाक्य–विन्यासों नियमों का पूर्णरूपेण पालन हुआ हो।

9.3.5 वाक्क्रिया का विषयिक तथा आकारिक ढंग

इसका अर्थ है कि सभी वैज्ञानिकों उक्तियाँ–या सभी उक्तियाँ भी –सभी बोलने के ढंग ऐसे नहीं हैं जहाँ तार्किक वाक्य–विन्यास–नियमों का समुचित पालन हुआ है। कार्नैप की मूल समस्या यही है, उन्हें अवगति है कि विज्ञान के कथन भी बहुधा वाक्य–विन्यास नियमों के विपरीत प्रतीत

होते हैं। उनके लिए सबसे बड़ी समस्या यह है कि बहुत–से–कथन ऊपर से ऐसे दिखाई देते हैं कि वह वाक्य–विन्यास के अनुरूप है, वहां वाक्य–विन्यास नियमों का हनन हुआ है।

कार्नैप के अनुसार ऐसा इस कारण होता है कि वाक्–क्रिया के दो ढंग होते हैं।कार्नैप के लिए इन दोनों ढंगों का अंतर बड़ा महत्वपूर्ण है, एक को वह **वाक्–क्रिया का विषयिक ढंग** तथा दूसरे को **वाक्–क्रिया का आकारिक ढंग** कहते हैं। इन दोनों का भेद सामान्य रूप में इस प्रकार किया जा सकता है। यदि हमारे भाषीय कथनों से ऐसा सूचित हो कि या भाषा से इतर किसी वस्तु या तत्व को सूचित कर रहा है तो ऐसी वाक्–क्रिया को विषयिक ढंग की वाक्–क्रिया कहेंगे। जैसे हम कहते हैं कि 'पाँच एक संख्या है' तो ऐसा प्रतीत होता है की संख्या नाम की कोई वस्तु है जिससे यह सूचित कर रहा है। इसके विपरीत जब भाषीय कथन ऐसे हैं जो भाषा के बाहर, भाषा से इतर किसी तत्व की ओर संकेत नहीं करते, बल्कि पूर्णरूपेण भाषीय है, तो ऐसी वाक्–क्रिया को आकारिक ढंग की वाक्–क्रिया कहेंगे। उदाहरणतः यदि हम ऊपर दिए वाक्य को इस प्रकार का है कि 'पाँच' शब्द वस्तु–सूचक शब्द नहीं है, बल्कि संख्या–सूचक शब्द है' – तो यह आकारिक ढंग की वाक्–क्रिया हुई क्योंकि यहां भाषा से इतर किसी तत्व की ओर संकेत नहीं है।

कार्नैप के लिए यह 'भेद' बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि इसी के आधार पर वे 'दर्शन का कार्य' स्पष्ट करना चाहते हैं। यहाँ एक स्पष्टीकरण और कर लेना है। हमारे बहुत से भाषीय कथन स्पष्टतः किसी वस्तु या तत्व के विषय में कहे जाते हैं। जैसे हम कहते हैं 'दिल्ली भारत की राजधानी है' – यह वाक्य स्पष्टतः किसी स्थान के संबंध में है। सच पूछा जाए तो ऐसे वाक्यों से कार्नैप को कोई परेशानी नहीं है, क्योंकि उनके विश्लेषण का ढंग ही अलग है, जिसमें भाषा से इतर किसी तत्व की ओर भी ध्यान देना है। वह शुद्ध वाक्य–विन्यास के अंतर्गत नहीं आयेगा, क्योंकि इसमें शब्दार्थ की समस्यायें भी उठेंगी। वस्तुतःकार्नैप के लिए विषयिक ढंग की वाक्–क्रिया के अंतर्गत वे कथन आते हैं जो वस्तुतः किसी वस्तु की ओर सूचित नहीं करते, फिर इस ढंग से कहे जाते हैं कि लगे कि वे किसी वस्तु को सूचित कर रहे हैं। इसी से वैचारिक भ्रांतियाँ, भाषीय अस्पष्टता, अनेकार्थकता आदि उत्पन्न होती है। इसी स्थल पर दर्शन का कार्य उपयोगी हो जाता है।

9.3.6 इस भेद के उदाहरण

इस बात के निर्देश के लिए कार्नैप अब तीन प्रकार के वाक्यों का उदाहरण लेते हैं। (क) **वस्तुसूचक वाक्य**, (ख) **छद्मवस्तु–सूचक वाक्य** अथवा **अर्धवाक्य–विन्यासात्मक वाक्य**, (ग) **वाक्य विन्यासात्मक वाक्य।** पहले प्रकार केवाक्य स्पष्टतः विषय हैं,इसके अंतर्गत हमारे सामान्य आनुभाविक वाक्य आते हैं। दूसरे प्रकार के वाक्य **विषयिक ढंग के कथन** हैं,तथा तीसरे प्रकार के वाक्य **आकारिक ढंग के कथन** हैं। व्याख्या की सुविधा के लिए अब हम तीनों प्रकार के कुछ उदाहरण लेंगे जो कार्नैप के ही उदाहरण हैं।

(क) आब्जेक्ट सेंटेंस (ख) स्यूडो–आब्जेक्ट सेंटेंस (ग) सिंथेटिकल सेंटेंस

(इन द मैटेरियल मॉड ऑफ स्पीच) (इन द फॉर्मल मॉड आफ स्पीच)

क्वैसी– सिंथेटिकल

(वाक्य सूचक वाक्य) (अर्ध–विन्यासात्मक वाक्य) (विन्यासात्मक वाक्य)

9.3.7 विश्लेषण कैसे होता है?

कार्नैप के अनुसार दर्शन का कार्य उपयोगी इस कारण है कि जिस प्रकार की भाषा से दर्शन को उलझना पड़ता है वे अधिकतर दूसरी कोटि के कथन है। जब कोई कथन स्पष्टतः किसी आनुभविक वस्तु को सूचित करते हैं, तो दर्शन को उसे और स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं। किंतु बहुत से कथन ऐसे हैं जो वैज्ञानिक होने का दावा करते हैं, किंतु वे विषयिक ढंग की वाक्–क्रिया में प्रस्तुत रहते हैं, दर्शनशास्त्र में तो ऐसे कथन भरे हुए हैं। इसी स्थल पर दर्शन का कार्य स्पष्ट होता है। दर्शन ऐसे कथनों का स्पष्टीकरण कर सकता है, उस स्पष्टीकरण में यह उन कथनों के वास्तविक वाक्य विन्यास को प्रकाश में ला सकता है।उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि वह वस्तुतःछद्म–विन्यासात्मक वाक्य है या वास्तविक विन्यासात्मक वाक्य है, याऐसे वाक्य हैं जो वाक्य विन्यास के नियम से असंगत है।यदि वेवाक्य विन्यास के नियमों के अनुरूप हैं फिर भी विषयिक वाक्–क्रिया के ढंग मेंव्यवहृत हुए हैं, तोउनके वाक्य विन्यास का स्पष्टीकरण यह दिखा देगा कि उस ढंग में कहे जाने के कारण कुछ समस्याएं उठ जाती हैं। जो उनके वास्तविक विन्यासात्मक रूप में आ जाने पर समाप्त हो जाती है।

अतः दर्शन का सामान्य कार्य हो जाता है अर्ध–विन्यासात्मक वाक्यों कोवास्तविक विन्यासात्मक वाक्यों के रूप में रूपांतरित करने की चेष्टा। इस चेष्टा में बहुत सी समस्याएं जो दार्शनिक समस्याओं के रूप में उभर आती हैं उनका समाधान एवं स्पष्टीकरण हो जाता है। कार्नैप ने इस ढंग से दर्शन की कुछ महत्वपूर्ण पारम्परिक समस्याओं का भी समाधान किया है। उन्हीं के उदाहरणों से कुछ उदाहरणों का चयन कर हम इसे सरल बनाने की चेष्टा करेंगे। उन्होंने **सामान्य, अर्थ, भौतिक वस्तु** आदि से संबंधित कुछ पारंपरिक दार्शनिक समस्याओं का तथा कुछ अस्पष्ट वैज्ञानिक कथनों का समाधान एवं स्पष्टीकरण अपने तार्किक वाक्य विश्लेषण द्वारा करने का प्रयत्न किया है। पहले हम कुछ परम्परागत दार्शनिक समस्याओं को देखें।

उदाहरण (।)–अर्थ –संबंधी समस्या। भाषा की एक समस्या रही है कि 'अर्थ' क्या है। मूलतः यह समस्या इस रूप में उठती है कि किसी भी उक्ति का अर्थ कोई 'वस्तु' – भाषा से इतर कोई वस्तु समझ लिया जाता है, कि अपने में एक अलग चिंतन का विषय है। किन्तु यदि 'अर्थ है, वाले वाक्य को उनके विन्यासात्मक वाक्यों में रूपांतरित करें तो यह कोई समस्या नहीं रहती।

अर्ध–विन्यासात्मक वाक्य	विन्यासात्मक वाक्य
1. डे स्टार मीन्स द सन.	द वर्ड डे स्टार इज सिननिम्स विद द वर्ड सन.

2. द लैटिन वर्ड 'लुना' डेजिंग्नेट द मून.	दवर्ड 'मून' इज द इंग्लिश कोरिलेट ऑफ द लैटिन वर्ड 'लुना'.

उदाहरण (I I) सामान्य संबंधी समस्याः

दर्शनशास्त्र के इतिहास में सामान्य संबंधी समस्यायें भी विषयिक ढंग की वाक्–क्रिया के कारण उत्पन्न होती है। सामान्यों का जैसे वस्तु, संख्या, संबंध, गुण आदि का व्यवहार भी इस ढंग से होता है, जिससे लगता है कि कोई भी वस्तु सूचित हो रही है– कोई अमूर्त वस्तु है। और अब दर्शन–शास्त्री उस वस्तु के स्वरूप निर्धारण की चेष्टा में विवादों में उलझ जाते हैं। यदि सामान्य–संबंधी उक्तियों कोउसके विन्यासात्मकरूपों में रूपांतरित कर दिया जाए तो सामान्य–संबंधी समस्यायें नहीं दिखेंगी।

अर्ध–विन्यासात्मक वाक्य	विन्यासात्मक वाक्य
1. द मून इस *थिंग*	'मून' इस ए थिंग–वर्ड
2. ए प्रापर्टी इस नॉट ए *थिंग*	ऐन एडजेक्टिव इस नॉट ए थिंग वर्ड
3. फ्रैण्डशिप इस ए *रिलेशन*	फ्रैण्डशिप इस ए रिलेशन–वर्ड
4. फ्रैण्डशिप इस नॉट ए *प्रापर्टी*	फ्रैण्डशिप इस नॉट ए प्रापर्टी वर्ड

उदाहरण (I I I) अब हम कुछ ऐसे उदाहरण लेंगे जहां अर्थपूर्ण उक्तियों तथा वैज्ञानिक कथनों का वास्तविक स्पष्टीकरण इस विधि से हो सकता है। इस प्रकार के कथन भी बहुधा इस प्रकार से दिए जाते हैं कि उनसे भी भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं।जैसे स्थान, काल आदि के विषय में वैज्ञानिक उक्तियाँ भी इस रूप में रखी जाती हैं उससे यह विचार आता है कि उनमें कोई निश्चित तत्त्व सूचित हो रहा है। ऐसे कथनों का तार्किक विन्यासात्मक रूपांतरण इन भ्रांतियों को दूर करता है।

अर्ध–विन्यासात्मक वाक्य	विन्यासात्मक वाक्य
1. टाइम इस वन डाइमेंशनल स्पेस इस थ्री डायमेंशनल	ए टाइम–डेजिग्नेशन कनसिस्ट ऑफ वन कोआर्डिनेट, ए स्पेस–डेजिग्नेट ऑफ देयर कोआर्डिनेट
2. टाइम इस इनफायनायट इन बोथ डायरेक्शन	एवरी पॉजिटिव ऑर निगेटिव रियल नंबर एक्सप्रेशन कैन बी यूस्ड ऐस ए टाइम कोआर्डिनेट

3. **विटगेंस्टीन के ट्रैक्टेटस के इस वाक्य को लें–**

द वर्ड इस टोटेलिटी ऑफ फैक्ट्स, नॉट ऑफ थिंग. (यहाँ 'फैक्ट्स' तथा 'थिंग्स' के	साइंस इस ए सिस्टम ऑफ सेन्टेन्स नॉट ऑफ नेम्स.

विषयिक प्रयोग के कारण अस्पष्टता रह जाता है, तथा अनेक प्रकार की भ्रान्तियों के उत्पन्न होने का स्थान रह जता है।)

4. द सर्कम्स्टेंस इस लॉजिकली नेसेसरी –लॉजिकली इम्पॉसबिल लॉजिकली नॉट पॉसबिल. द सेनटेंस इस एनलेटिक, कंट्राडिक्टरी कंट्राडिक्टरी.
5. आयडेंटिटी इस नॉट ए रिलेशन बिटविन ऑब्जेक्ट . द सिंबल ऑफ आयडेंटिटी इस नॉट ए डिसक्रिप्टिव सिंबल.

इस प्रकार कार्नैप ने इस तार्किक रूपांतरण विधि से अनेकों दार्शनिक समस्याओं से जूझने का प्रयत्न किया है। यह ठीक है कि बाद में इस रूपांतरण के विरुद्ध आपत्तियाँ उठीं, हम उन आपत्तियों के विवरण में नहीं क्योंकिउन आपत्तियों के बाद भी इतना तो स्वीकार्य ही रहा है कि तार्किक भाषा–विश्लेषण भाषीय उक्तियों के स्पष्टीकरण की एक मान्य विधि मानी गई है। उस विधि के उपयोग–प्रयोग में कमी अथवा अर्थपूर्णता हो सकती है, किंतु कार्नैप को इसके लिए तो साधुवाद देना ही है कि उन्होंने दर्शन का कार्य तार्किक विश्लेषण कहा, तो अपने ढंग से उदाहरण ले लेकर इस विश्लेषण–विधि के कार्य करने के ढंग को स्पष्ट किया।

9.3.8 'विज्ञान की एकता' में दर्शन का योगदान

कार्नैप के अनुसार दर्शन का एक कार्य तो यही है, कि किंतु इसी कार्य के करने में दर्शन का एक दूसरा कार्य भी स्पष्ट होता है। इस कार्य के लिए एक तार्किक विन्यासात्मक भाषा के रूपरेखा स्पष्ट होती है।यह भाषा वैसी भाषा होगी जिसमें विज्ञान के कथन स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किए जा सकेंगे।अतः दर्शन का कार्य इस प्रकार के विज्ञान की भाषा की स्थापना भी है।

इस स्थल पर एक बड़ा रुचिकर निष्कर्ष निकल जाता है। पाश्चात्य दर्शन की पारम्परिक विचारधारा विज्ञान तथा दर्शन में कुछ इस प्रकार का संबंध मानती रही हैः उनकी हर मान्यता रही है कि हर विज्ञान अपने निश्चित क्षेत्र में, उस क्षेत्र के सीमित परिप्रेक्ष्य में विश्व का अध्ययन करता है, तथा दर्शन उन सभी विभागीय अध्ययनों–दृष्टियों का समन्वय–संगठन कर, संपूर्ण विश्व के संबंध में समग्रता का चित्र प्रस्तुत करता है। इस प्रकार पारस्परिक विचारधारा के अनुसार दर्शन विज्ञानों को एक संगठन में बांधने का प्रयास है। कार्नैप के अनुसार, अपने ढंग से अभी भी दर्शन का यह कार्य है। अभी भी दर्शन अपने ढंग से विभिन्न विज्ञानों को एक सूत्र में बाँधकर उन में एकरूपता–एकता–स्थापित करने की चेष्टा करता है। इस विचार को कार्नैप विज्ञानों की एकता का विचार कहते हैं।

इस प्रकार की एकता कैसे स्थापित हो सकती है? यहाँ भी माध्यम **भाषा** ही है। हमने देखा है कि सभी विज्ञानों के कथनों का स्पष्टीकरण तार्किक विन्यास की भाषा में होता है। इसका अर्थ है

कि तार्किक विन्यास की भाषा एक दृष्टि से विज्ञान की सार्वभौम भाषा है, ऐसी भाषा है जिसमें सभी विज्ञानों के कथनों कोढाला–रूपान्तरण किया जा सकता है। इसका अर्थ है कि सभी विज्ञान– भौतिकी, रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, मनोविज्ञान आदि का कुछ सामान्य–सार्वभौम **शब्द–भंडार** तथा **वाक्य–विन्यास** अवश्य है। यही सामान्य शब्द–भंडार एवं वाक्य–विन्यास वाली भाषा विज्ञानों की सामान्य सार्वभौम भाषा है। कार्नैप इसे **भौतिक भाषा** कहते हैं और कहते हैं कि यह सभी **विज्ञानों कीसर्वभौम भाषा** है। इसी भाषा की रूपरेखा दर्शन **तार्किक वाक्य–विन्यास की भाषा** में खींचता है, तथा इस भाषा की स्थापना के द्वारा सभी विज्ञानों को एकरूप कर देता है– विज्ञानों की एकता स्थापित करता है।

कार्नैप इसे **भौतिक भाषा** कहते हैं, किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि यह **भौतिकी की भाषा** है। यह ठीक है कि कार्नैप भौतिकी को केंद्रीय विज्ञान मानते हैं, किन्तु भौतिकी की भाषा विज्ञान की सभी विज्ञानों की सार्वभौम भाषा नहीं हो सकती, क्योंकि अपने क्षेत्रीय परिवर्तनों के फलस्वरूपइसकी भाषा बदलती रहती है, अतः इसमें ऐसीसार्वभौमता नहीं आती कि सभी विज्ञानों की भाषा को इसमें रूपांतरित किया जा सके। जबकि **सार्वभौम भौतिक भाषा**जो सभी विज्ञानों की भाषा है, ऐसी भाषा है जिसमें किसी भी वैज्ञानिक कथन का रूपांतरण हो सकता है।

कार्नैप ने उदाहरणों से इसे स्पष्ट किया है। हम उनके मनोविज्ञान के लिए एक उदाहरण के आधार पर इसे समझने का प्रयत्न करें। इस मनोवैज्ञानिक कथन को लें,'जॉन को पीड़ा है'कार्नैप का कथन है कि यदि इस कथन को ऐसे कथनों में रूपांतरित नहीं किया जा सके जिनके अनुभव–परीक्षा की संभावना है, तो यह कथन–यह वैज्ञानिक कथन– अर्थहीन हो जायेगा। ऐसा नहीं है क्योंकि इसे भौतिक भाषा में रूपांतरित किया जा सकता है। यह रूपांतरण ऐसे कथनों में होगा जो जॉन के शरीर की ऐसी अवस्थाओं के विषय में होंगे जिनके निरीक्षण की संभावना हो।'जॉन को पीड़ा है' का रूपांतरण होगा 'जॉन का शरीर 'अ' अवस्था में है'–जबकि 'अ' अवस्था के अंतर्गत वे समस्त अवस्थाएँ आ जाती हैं जिनका निरीक्षण संभव हो। इसका अर्थ नहीं कि ये दोनो कथन तार्किक दृष्टि से सर्वथा एक उक्ति है। दूसरी– 'भौतिक भाषा वाली उक्ति' मनोवैज्ञानिक कथन का स्पष्टीकरण है। जो अनुभव–संभावना के आधार पर उस मनोवैज्ञानिक कथन को अर्थपूर्ण बनाती है।

इस प्रकार कार्नैप का कहना है कि सभी विज्ञानों की सामान्य भाषा 'भौतिक भाषा' है जिसे समृद्ध करना दर्शन का कार्य है। बाद में तो कार्नैप ने यह भी आशा व्यक्त की है कि शायद सभी विज्ञानों के क्षेत्रीय नियम भी किसी–न–किसी रूप में इसी भौतिक भाव के अनुरूप निर्धारित हो। किन्तु इस निष्कर्ष की स्थापना के लिए पर्याप्त सामग्री अभी उपलब्ध नहीं है।

9.4 सारांश

तत्त्वमीमांसा का निरसन के साथ–साथ तार्किक भाववाद के सामने एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा हो जाता है। दर्शन का कार्य क्या हो सकता है? तार्किक भाववाद का उत्तर है दर्शन तार्किक विश्लेषण की विधि के उपयोग से एक निषेधात्मक तथा दूसरा भावनात्मक कार्य कर सकता है।

निषेधात्मक, कार्य में इस विधि की उपयोग से यह पता लग जाता है कि कौन–से कथन छद्म–कथन हैं या अर्थहीन हैं। अपने भावात्मक उपयोग में यह अर्थपूर्ण वाक्यों, भावों, कथनों का विश्लेषण कर सकता है। तार्किक भाववाद के अनुसार दर्शन का कार्य विज्ञान की भाषा का अथवा हर प्रकार के आनुभविक तथा गणितीय कथनों का तार्किक विश्लेषण है।

तार्किक भाववादी विचारकों नें तार्किक आदर्श भाषा, तार्किक विश्लेषण, वाक्क्रिया का विषयिक तथा आकारिक ढंग, इस भेद के उदाहरण, विश्लेषण कैसे होता है?, 'विज्ञान की एकता' में दर्शन का योगदान आदि का विश्लेषण करते हुये दर्शन अपने ढंग से विभिन्न विज्ञानों को एक सूत्र में बाँध कर उन में एकरूपता–एकता–स्थापित करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार तार्किक भाववाद का कहना है कि सभी विज्ञानों की सामान्य भाषा 'भौतिक भाषा' है जिसे समृद्ध करना दर्शन का कार्य है।

9.5 शब्दार्थ सूची

विधि	–	व्यवस्था अथवा प्रणाली
रूपान्तरण	–	बदलना
संरचित	–	जिसका निर्माण किया हो
विषयिक	–	पदार्थ परक
शब्दार्थ	–	अर्थ विज्ञान
सामान्य	–	सार्वभैमिक
विज्ञान	–	व्यवस्थित ज्ञान
निरूपण	–	विश्लेषण
अस्तित्व	–	भैतिक सत्तावान
अनुरूप	–	समान

9.6 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तक

1. कार्नैप रुडोल्फः फिलोसिफिकल एण्ड लॉजिकल सिन्टेक्स, केन पॉल, लंडन, 1935.
2. विटगेन्सटीन, ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसफी
3. विटगेन्सटीन, फिलॉसफिकल इन्वेस्टीगेशन, मैकमिलन न्यू यार्क, 1953
4. कार्नैप रुडोल्फः मीनिंग एण्ड नेसेस्टी, शिकागो यूनिवर्सिटी प्रेस, 1947
5. प्रो0 बी के लालः समकालीन पाश्चात्य दर्शन
6. प्रो0 लक्ष्मी सक्सेनाः समकालीन पाश्चात्य दर्शन

9.7 बोध प्रश्न

लघु उत्तरीय :

1. तार्किक भाववाद के दर्शन का कार्यका प्रारम्भिक उद्‌देश्य क्या था?
2. तार्किक भाववाददर्शनके भावात्मक कार्य को किस अर्थ में कहते हैं?
3. तार्किक भाववादकी तार्किक भाषा किससे सम्बन्धित है?
4. तार्किक भाववाद के तार्किक विश्लेषण का मौलिक तत्त्व क्या है?
5. भाषा दर्शन के क्षेत्र में तार्किक भाववाद का क्या योगदान है?

दीर्घ उत्तरीय :

1. तार्किक भाववाद केभाषा विश्लेषण में उभरेतार्किकता पक्ष की विवेचना कीजिए?
2. दर्शन के कार्य के सम्बन्ध में तार्किक भाववादद्वारा प्रस्तुत विश्लेषण का विवरण दीजिए?
3. दर्शन के कार्य के ऐतिहासिक महत्त्व का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए?

.....000......

खण्ड–4 : लुडविग बिटगेंस्टाइन

खण्डपरिचय

पाश्चात्य जगत में बीसवीं शताब्दी के सबसे प्रभावशाली विचारक लुडविग विटगेन्स्टाइन को स्वीकार किया जाता है। समकालीन पाश्चात्य दर्शन की भाषा दर्शन की परम्परा को स्थापित करने में विटगेन्स्टाइन की प्रमुख भूमिका रही है। प्रारंभिक शिक्षा के बाद विटगेंस्टाइन मैनचेस्टर विश्वविद्यालय में इंजीनियरिंग के शोध छात्र के रूप में उन्होंने वायुयानों के लिए जेट–प्रतिक्रिया वाली मशीन का ढांचा निर्मित किया। बाद में उनकी रुचि गणित के मूलाधार से होते हुए दर्शन शास्त्र की ओर उन्मुख हुए और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में दर्शन शास्त्र का अध्ययन करने के लिए पहुंच गए। उन्होंने कई वर्षों तक कैम्ब्रित विश्वविद्यालय में अध्यापन भी किया। उनकी प्रमुख रचनाएं *ट्रैक्टेटस लाजिको फिलासोफिकस* (Tractatus Logico Philosophicus) *द ब्लू बुक* (The Blue Book), *द ब्राउन बुक* (The Brwon Book), *फिलासोफिकल इन्वेस्टिगेशन्स* (Philosophical Investigation)हैं। इनमें *द ब्लू बुक* और *द ब्राउन बुक* छात्रों को लिखाए गए नोट्स थे जो बाद में प्रकाशित हुए।

विटगेन्सटाइन के प्रारंभिक चिंतन काल की महत्वपूर्ण पुस्तक ट्रेक्टेटस लाजिको फिलासोफिकस है। उनके व्यापक दार्शनिक चिंतन को सुविधा के लिए दो भागों पूर्ववर्ती विटगेन्स्टाइन तथा उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन में वर्गीकृत किया जाता है। सन् 1921 में प्रकाशित *ट्रैक्टेटस लाजिको फिलोसोफिकस* (Tractatus Logico Philosophicus) पुस्तक पूर्ववर्ती विटगेन्स्टाइन के विचारों को अभिव्यक्त करती है, जबकि उत्तरवर्ती विटगेन्स्टान के चिंतन का आधार *फिलॉसाफिकल इन्वेस्टिगेशन*(Philosophical Investigation)है, जो उनकी मृत्यु के बाद वर्ष 1953ई0 में प्रकाशित हुई।

प्रस्तुत खण्ड कें इकाई 1 और 2 में पूर्वर्ती विटगेन्स्टाइन से सम्बन्धित विचारों को स्पष्ट किया गया है, जबकि इकाई 3 और 4 में उत्तरवर्ती विटगेंस्टाइन के विचारों को संकलित किया गया है।

खण्ड 4

लुडविग विटगेन्स्टाइन

इकाई–10 : जगत, तथ्य तथा विषय

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 पूर्ववर्ती व उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन

10.3 ट्रैक्टेटस पुस्तक

10.3.1 प्रतिज्ञप्ति

10.3.2 प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति

10.4 जगत

10.5 तथ्य

10.6 विषय

10.7 निष्कर्ष

10.8 सारांश

10.9 प्रश्न बोध

10.10 उपयोगी पुस्तकें

....000.........................

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम यह जानेंगे कि –

1. भाषा दर्शन के विकास में चित्र सिद्धांत की भूमिका
2. विटगेन्सटीन के प्रारंभिक चिंतनकाल अर्थात Tractatus Logico Philosophicusका दर्शन।
3. भाषा का स्वरूप तथा भाषा एवं जगत के संबंध का विवेचन।
   a. भाषा जगत के विषय में क्या व्यक्त कर सकती है?
   b. तथ्य एवं वस्तु स्थिति क्या है?

c. प्रतिज्ञप्तियां क्या हैं?

d. वस्तुस्थिति या जगत का चित्रण कैसे संभव है?

4. क्या तत्व मीमांसीय युक्तियां अर्थ पूर्ण होती हैं?

5. क्या अर्थ पूर्ण ढंग से कहा जा सकता है और क्या है जो अर्थपूर्ण ढंग से नहीं का जा सकता।

10.1 प्रस्तावना

विटगेन्सटीन जीवन भर खुले मन से विचारों की गत्यात्मकता को स्वीकार करते रहे। ठहरा हुआ विचार उनकी उनकी दृष्टि में शिक्षक के लिए 'जीवित मृत्यु' (A Living Death) है। विटगेन्स्टीन ने बीसवीं सदी के भाषा दर्शन को उचित दिशा दी। अपने प्रारंभिक चिंतन काल में Tractatus Logico Philosophicus नाम पुस्तक सेतार्किक भाववाद कोप्रभावित किया। कालांतर में अपने ही विचारों से असंतुष्ट होकर अपने चिंतन को नया रूप देना आरंभ किया और परिणाम स्वरूप उनकी द्वितीय महत्वपूर्ण पुस्तक Philosophical Investigationअतिस्व में आई।

प्रथम इकाई मुख्यतः ट्रैक्टेटस में प्रतिपादित उनके विचारों पर ही केन्द्रित है। यह पुस्तक विचार की अभिव्यक्ति की सीमा को निर्धारित करती है। और यह कार्य भाषा के माध्यम से ही हो सकता है क्योंकि अगर हम विचार की सीमा का निर्धारण विचार के आधार पर करने का प्रयत्न करें तो इसका अर्थ होगा कि जिस पर विचार किया ही नहीं जा सकता हम उस पर विचार करने का प्रयास कर रहे हैं और यह आत्म विरोधी है। अतः यही कारण है कि विटगेन्सटीन का बल भाषा दर्शन पर रहा है। जिसे भाषा में व्यक्त किया जा सकता है। उसे स्पष्ट कहा जा सकता है किन्तु जो इस सीमा के बाहर है, जिसे भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता वहां ''मौन'' ही ठीक है।

10.1 पूर्ववर्ती व उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन

इस पुस्तक की भूमिका में लुडविग विटगेन्स्टाइन ने पुस्तक के लक्ष्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जिसे भाषा में व्यक्त किया जा सकता है जिसे कहा जा सकता है उसे स्पष्ट कहा जा सकता है, किन्तु तो इस सीमा के बाहर है, जिसे कहा नहीं जा सकता–भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता– उसके विषय में मौन ही ठीक है। अतः पुस्तक में जिसके विषय में कहा जा सकता है– अर्थात जिसे भाषा में व्यक्त किया जा सकता है, और जिसे भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इसी को स्पष्ट करने में भाषा सम्बन्धी समस्याएं तथा उनसे सूचित होने वाले चित्रों से सम्बन्धित समस्याओं का स्पष्टीकरण हुआ है।

1918 में विटगेन्सटाइन नेअपनी प्रथम पुस्तक "Tractates Logic- Philosophic समाप्त करने के पश्चात् समझा कि इस पुस्तक के सभी सिद्धांत यथार्थ है एवम् इन सिद्धांतों के माध्यम से वे दर्शन–शास्त्र की सभी समस्याओं का समाधान कर सकते हें। पर कुछ दिनों के बाद ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों को नया रूप देना प्रारम्भ किया। जिसकी झलक उनके कक्षा नोट्स "The Blue Book"एवम् "The Brown Book" में मिलती है। इस परिवर्तन में नये विचारों का सर्जन एवं विकास होने लगा जिसका परिपक्व रूप उनके "Philosophical Investigation" में संजोया गया।

विटगेन्सटीन को ही दो नाम दे दिया जाता है। पूर्वकालीन विट्गेन्सटीन (Early Wittgenstein) तथा उत्तर कालीन विट्गेन्सटीन (Later Wittgenstein)। मूलतः पूर्वकालीन विट्गेन्सटीन उस दर्शन का प्रतिपादक है जो "Tractatus Logical Philosophicus" में संकलित है। उत्तर कालीन विटगेन्सटाइन वह विचारक है जिसके केन्द्रीय विचार "Philosophical Investigation"में निहित है। पूर्वकालीन विट्गेन्सटाइन और उत्तर कालीन विट्गेन्सटाइन के विचारों एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में पर्याप्त भिन्नता है। ट्रैक्टेटस की विधि तार्किक है। उसमें तार्किकता की मांगों के अनुरूप बड़ी सावधानी से वाक्यों का क्रम निर्धारित किया गया है। पुस्तक में अपने ढंग की तार्किक व्यवस्था है। इसके विपरीत Philosophical Investigation की विधि विवरणात्मक है।Tractatus की तुलना में यह अव्यवस्थित ही है।Wittgenstein के अनुसार यह पुस्तक एक प्रकार से एक लम्बी यात्रा का एलबम है। इस लम्बी यात्रा में विभिन्न प्रकार के दृश्य दिखाई गये तथा पुस्तक उनको रेखांकित करती गयी। इसके परिणाम स्वरूप वे रेखांकित चित्र अनेक दिशाओं से लिए गये चित्र हैं। एक ही दृश्य को भिन्न–भिन्न दिशाओं से देखकर भिन्न–भिन्न रेखांकित चित्र निर्मित किये गये।

Tractatus के प्रतिपादन में प्रतिबद्धता है। किन्तु Philosophical Investigation के प्रतिपादन में अनौपचारिकता है जहां Tractatus के दार्शनिक निष्कर्षों में पूर्ण अनिवार्यता स्थापित करने की चेष्टा की गयी है। वहीं Investigation के निष्कर्षों में तदर्थता है। (यहां विश्लेषण की विधि उतनी नियमबद्ध व कठोर नही है कि प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता–निरर्थकता का निर्णायक रूप में समाधान प्रस्तुत कर दे) यहां जिस प्रकार की समस्यायें उत्पन्न होती हैं उसी के अनुरूप उनका विश्लेषण किया जाता है। प्रत्येक प्रकार की भाषीय अभिव्यक्ति के लिए एक ही प्रकार की औपचारिक विधि ऐसी अभिव्यक्तियों के साथ न्याय नहीं कर सकती। अतः यहां भाषीय अभिव्यक्तियों के व्यवहारों पर आधारित अनौपचारिक विश्लेषण को ही विशेष महत्व दिया जाता है। Philosophical Investigation का दर्शन Tractatus में विकसित विचारोंकी आलोचना से प्रारम्भ होता है। Tractatus में प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता चित्र सिद्धांत द्वारा निर्धारित की जाती है। प्रतिज्ञप्तियों तथ्यों को चित्रित करती है।

किन्तु Philosophical Investigation में प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता भाषीय क्रीड़ा (Language Game) के द्वारा निर्धारित की जाती है। पूर्वकालीन विटगेन्सटाइन अर्थ पर विशेष बल देते थे पर उत्तरकालीन विटगेन्सटाइन अर्थ पर बल न देकर प्रयोग पर विशेष बल देते थे। भाषीय क्रीड़ा एवं भाषीय प्रयोग के आधार पर ही विटगेन्टाइन ने संवेदना (Sensation), वैयक्तिक भाषा (Private Language)] अन्य मनस का ज्ञान (Knowledge of other Minds), तार्किक अनिवार्यता (Logical Necessity) इत्यादि विषयों का सफल प्रयोग किया है। इसीकारण विटगेन्सटाइन ने प्रारम्भ में ही Philosophical Investigation को विभिन्न चित्रों का Album कहा है।

Tractatus की प्रमुख समस्या प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता थी। इसका कारण यह है कि Tractatus स्वीकार करता है कि भाषा का एक मात्र कार्य सूचना प्रदान करना है किन्तु Philosophical Investigation के अनुसार प्रतिज्ञप्तियां मात्र सूचना नहीं देतीं वरन अन्य प्रकार के कार्य भी सम्पादित करती हैं। Tractatus प्रश्न उठाता है –''भाषा से विश्व के विषयमें क्या कहा जा सकता है?'' जो कुछ भी

कहा जा सकता है, वह या तो सत्य होगा या असत्य हो सकता है और जो सत्य या असत्य हो सकता है वे प्रतिज्ञप्ति हैं। यह जो व्यक्त करती है, उसे निश्चित रूप में व्यक्त करती है।

टैक्टेटस के औपचारिक तार्किक विश्लेषण के स्थान पर Philosophical Investigation अनौपचारिक भाषीय विश्लेषण पर विशेष बल देता है। विट्गेन्सटाइन का विश्वास है कि दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र भाषा है क्योंकि दार्शनिक समस्यायों के उद्भव तथा उनके निदान दोनों का स्रोत भाषा ही है। कहा जा सकता है कि दार्शनिक समस्यायें तब उत्पन्न होती हैं जब भाषा अवकाश (Holiday) पर चली जाती है। ट्रैक्टेटस के अनुसार दार्शनिक समस्या तब उत्पन्न होती है जब कोई प्रतिज्ञप्ति तथ्यों का चित्रण नहीं करती अर्थात् न तो वह प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता–फलन के रूप में अभिव्यक्त की जा सकती है। पर Philosophical Investigationके अनुसार दार्शनिक समस्यायें उलझन (perplexity) या दुबिधा (Puzzlement) के रूप में उत्पन्न होती है।

इस उलझन प्रक्रिया का रूप इस प्रकार का होता है कि पक्ष–विपक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करने के बाद भी उलझन शेष रह जाती है और ऐसा प्रतीत होता है कि इससे बाहर निकलने का कोई मार्ग ही नहीं दिखाई देता। यह उलझन एक प्रकार की मानसिक व्याधि है जिससे त्राण पाने का कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ता। यह भाषा के सम्मोहन (Bewithc ment of Language) का प्रतिफल है। इन प्रयोगों की बार–बार आवृत्ति के कारण एक चित्र उत्पन्न हो जाता है और हम उस चित्र के बन्दी हो जाते हैं। विटगेन्सटीन के अनुसार यह एक मानसिक व्याधि है जिसका समाधान नहीं वरन् उपचार करना है। इस सन्दर्भ में उन्होंने दार्शनिक क्रिया को उपचार प्रक्रिया (Thierapeutic Activity) कहा है।

विटगेन्सटाइन के अनुसार भाषीय उलझन व दुबिधा के निदान की विधि भाषीय क्रीड़ा (Language Game) खेलना है। जैसे–जैसे समस्यायें उत्पन्न हो वैसे–वैसे उन समस्याओं के साथ क्रीड़ा करना है। यह कोई ऐसी क्रीड़ा नहीं है कि एक बार खेल लेने से सारी समस्यायें समाप्त हो जाएं। इस विश्लेषण का उद्देश्य यह स्पष्ट कर देना है कि समस्या वस्तुतः कोई सार्थक समस्या ही नहीं थी बल्कि वह भाषा से सम्बन्धित कुछ भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं के कारण उत्पन्न हुई थी। मानसिक उलझन में पड़े हुए व्यक्ति के समक्ष उसकी भ्रान्ति को स्पष्ट कर देना ही उसका समाधान है। यही मानसिक व्याधि ही उपचार विधि है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या इस विधि से समस्या का समाधान हो जाता है? विटगेन्टाइन के अनुसार ममस्या के सुलझने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता क्योंकि समस्या कोई वास्तविक समस्या ही नहीं थी। यहां समस्या के निदान के अर्थ समस्या की समाप्ति है। यदि यह स्पष्ट कर दिया जाय कि समस्या भ्रान्ति पर आधारित थी तो समस्या स्वयं विगलित हो जाती है। विटगेन्सटाइन के अनुसार भाषीय क्रीड़ा का सिद्धांत किसी समस्या का समाधान नहीं वरन् समस्या की ही समाप्ति है।

अन्ततः हम इस निष्कर्ष पर पंहुचते हैं कि यदि हम उपर्युक्त विवरण पर दृष्टिपात करते हैं तो हमेंTractates के Wittgenstein एवं philosophical Investigation के Wittgenstein के विचारों एवं दार्शनिक दृष्टिकोणों में पर्याप्त भिन्नता मिलती है।

10.3 ट्रैक्टेटस पुस्तक

Tractatus Logico Philosophicusविटगेन्सटीन केप्रारंभिक चिंतन काल को प्रदर्शित करती है। इस पुस्तक में विचारों को सूत्रों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। तत्कालीन पुस्तकों की सामान्य षैली से हटकर इसमें वाक्यों एवं कथनों को संख्याओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

प्रमुख या महत्वपूर्ण कथनों को पूर्णांक जैसे –1, 2, 3 7....... से निरूपित किया गया है। किसी कथन के स्पष्टीकरण, विशदीकरण को 1.1 जैसी संख्याओं द्वारा किया गया है या 1.1 या 2.1 जैसे कथनों को टिप्पणी के लिए भी प्रयुक्त किया गया है।

इस पुस्तक में विचार की अभिव्यक्ति की सीमाएं निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। विटगेन्सटीन के शब्दों में –What can be said at all can be said clearly and what we cannot talk about we must pass over in silence.”

अर्थात जिसे भाषा में व्यक्त किया जा सकता है उसे स्पष्ट कहा जा सकता है किन्तु जो इस सीमा के बाहर है जिसे कहा नहीं जा सकता या भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके विषय में मौन ही ठीक है। इस बात को ही स्पष्ट करने के लिए इस पुस्तक में भषा सम्बन्धी समस्याओं और उनसे सूचित होने वाले चित्रों से संबंधित संप्रत्ययों/समस्याओं का स्पष्टीकरण किया गया है।

10.3.1 प्रतिज्ञप्ति

प्रतिज्ञप्ति भाषओं से भिन्न है। वाक्य सदैव किसी विशेष भाषा से संबंधित होता है। जो कि उस भाषा के नियमों के अनुरूप निर्मित होता है। दूसरी ओर प्रतिज्ञप्ति किसी विशेष भाषा में नहीं होती। भिन्न–भिन्न भाषाओं के वाक्य तो भिन्न–भिन्न होंगे किन्तु यह सम्भव है कि उन सभी भाषाओं के अलग–अलग वाक्यों के माध्यम से एक ही प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त किया जा रहा हो।

- शब्दों को वाक्य विन्यास के नियमों के आधार पर जब सम्बन्धित किया जाता है तो वाक्य बनते हैं।
- वाक्यों में जो कहा जाता है जो व्यक्त होता है वह प्रतिज्ञप्ति है।
- प्रतिज्ञप्तियों वाक्यों के वे अर्थ हैं जो सत्य या असत्य हो सकती हैं।
- वाक्य व्याकरण तथा वाक्य विन्यास के नियमों के अनुरूप शुद्ध या अशुद्ध हो सकता है न कि सत्य –असत्य।
- सत्यता असत्यता प्रतिज्ञप्ति में होती है न कि वाक्य में। सत्यता –असत्यता को देखना है तो वाक्यों में जो व्यक्त होता है उसे कहा जा रहा है उसे देखना होता है।
- प्रतिज्ञप्ति और वस्तु स्थिति में यदि अनुरुपता है तो प्रतिज्ञप्ति सत्य है यदि अनुरूपता नहीं है तो प्रतिज्ञप्ति असत्य है।

10.3.2 प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति

संरचना एवं विश्लेषण की दृष्टि से प्रतिज्ञप्तियां प्रतिज्ञप्तियां प्राथमिक एवं जटिल दो प्रकार की होती हैं। (i) प्राथमिक (ii) जटिल।प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों को प्राथमिक इस कारण कहा जाता है कि ये प्रतिाप्तियों की सरलतम इकाई हैं। इनका विश्लेषण अन्य प्रतिज्ञप्तियों में नहीं हो सकता। प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति के विश्लेषण पर नाम मिलते हैं। नामों का उल्लेख मिलता है या नामों का संबंध सूचित होता है। यद्यपि विटगेन्सटीन ने प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति का स्पष्ट उदाहरण नहीं दिया है। उनका मानना है कि जटिल प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों का विभाजन करने पर सरलतम स्तर पर जग ऐसी प्रतिज्ञप्तियां प्राप्त हो जाए जिनका विश्लेषण अन्य प्रतिज्ञप्तियों में नहीं हो सकता सरल प्रतिज्ञप्ति है।

प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति में नामों की श्रृंखला होती है। इन नामों का अपने में कोई बोध नहीं होता बल्कि कुछ निर्देशित उद्देश्य होता है। वहीं प्रतिज्ञप्तियां कुछ निर्देश नहीं करती बल्कि विवरण देती हैं। नामों से निर्देश होता है। यद्यपि प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति की संरचना नामों की श्रृंखला से होती है। नाम की शाब्दिक परिभाषा नहीं दी जा सकती। नाम विश्लेषण का अन्तिम विन्दु है और इसका विश्लेषण नहीं हो सकता। नाम से सरलतम स्तर पर जो सूचित होता है उसे विषय कहते हैं। विषयों के संबंधित होने से वस्तु स्थिति बनती है।

इस प्रकार नामों की विशेष की विशेष ढंग की श्रृंखला प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति है। प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति किसी विषय को सूचित नहीं करती बल्कि विषयों के सम्बन्ध को सूचित करती है। वस्तु स्थिति को सूचित करती है। नाम से विषय का निर्देश मिलता है तो प्रतिज्ञप्ति में नामों या विषयों के सम्बन्ध का बोध होता है।

प्राथमिक एवं जटिल प्रतिज्ञप्ति के बीच संबंध को स्पष्ट करने के क्रम में कहा जा सकता है कि सभी प्रतिज्ञप्तियां प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों के सत्यता फलन हैं। अर्थात जटिल प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता असत्यता प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता असत्यता पर निर्भर है।

विटगेन्सटाइन के अनुसार प्रतिज्ञप्ति तभी अर्थ पूर्ण होती है जब वे या तो सत्य हों या असत्य। यदि कुछ ऐसा कहा जाता है तो उसे प्रतिज्ञप्ति नहीं कहा जा सकता। या निरर्थक ही कहा जाएगा।

10.4 जगत

विटगेन्टाइन के अनुसार विचार की सीमा का निर्धारण भाषा द्वारा ही किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ में भाषा के अध्ययन की सार्थकता प्रकट होती है। ट्रैक्टेटस में यही प्रदर्शित किया गया है कि –**'जगत के सम्बन्ध में क्या कथन किया जा सकता है।'**

विटगेन्टाइन ने ट्रैक्टेटस में भाषा के स्वरूप एवं उसके जगत के साथ सम्भाव्य सम्बन्धों की व्याख्या प्रस्तुत की है। ट्रैक्टेटस के विचारों को समझने के लिए जगत एवं भाषा के स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है। इसी कारण विटगेन्स्टाइन ने सर्व प्रथम गत के स्वरूप की व्यख्या करने की चेष्टा की है –

1. जगत वह सब है जो कुछ है।
2. जगत तथ्यों का समुच्चय है
3. जगत तथ्यों में विभाजित है।

संसार के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें न केवल इस बात की जानकारी होनी चाहिए कि संसार में कौन–कौन सी वस्तुएं हैं वरन हमें उनके विन्यास (Arrangement) की भी जानकारी होनी चाहिए।

मानलिया की कोई व्यक्ति इसमें किसी कमरे का पूर्ण वर्णन करने के लिए कहता है तो हम केवल कमरे के अंग प्रत्यंगों एवम् उसके भीतर रखी वस्तुओं का ही वर्णन नहीं करेंगे वरन इस बात का भी वर्णन करेंगे कि वस्तुएं कमरे में किस प्रकार व्यवस्थित की गयी हैं। वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को ही तथ्य कहते हैं। अतः जगत का पूर्ण वर्णन वस्तुओं के माध्यम से नहीं वरन तथ्यों के माध्यम से किया जा सकता है।

विटगेन्टाइन ने ट्रैक्टेटस में भाषा के स्वरूप एवं उसके जगत के साथ सम्भाव्य सम्बन्धों की व्याख्या प्रस्तुत की है।

ट्रैक्टेटस के विचारों को समझने के लिए जगत एवं भाषा के स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है। इसी कारण विटगेन्टाइन ने सर्वप्रथम जगत के स्वरूप की व्याख्या करने की चेष्टा की है

जगत (World) से विचार का प्रारम्भ हुआ – उस भाव को समझने के लिए तथ्यों का उल्लेख हुआ है। तथ्यों को स्पष्ट करने के प्रयत्न में वस्तुस्थिति (States of affairs) के भाव का उपयोग हुआ और उसके स्वरूप को स्पष्ट करने में विषय का उल्लेख हुआ है।

पुस्तक का पहला वाक्य है – 'सब कुछ जो जगत ही है।' तो इस जगत के विषय में क्या कहा जा सकता है। जगत के अन्तर्गत जो वस्तुएं हैं उन सबों को जानने से जगत की जानकारी नहीं होगी। उन वस्तुओं की व्याख्या क्या है –यह जानना होगा, और हर व्यवस्था तथ्य है। यही कारण है कि विटगेन्स्टीन ने कहा कि ' जगत वस्तुओं की सम्पूर्णता नहीं है, तथ्यों की सम्पूर्णता है।'

10.5 तथ्य

तथ्य क्या है? वस्तुओं की विशेष ढंग की व्यवस्था – उनके आपस में सम्बन्धित होने के ढंग ही तथ्य हैं। इस प्रकार का सम्बन्ध बताता है कि वस्तुत स्थिति क्या है– किस ढंग से वस्तुएं हैं। तो जो है वही तथ्य है। वस्तु स्थिति का होना तथ्य है। तथ्य ही निर्धारित करता है कि क्या है, तथा तथ्य ही निर्धारित करता है कि क्या नहीं है। जगत के विषय में जानकारी का अर्थ ही है 'क्या है' तथा 'क्या नहीं है' का जानना। क्या है, क्या नहीं है इसे जानना वस्तु स्थिति का जानना है। यही कारण है कि विटगेन्सटीन कहते हैं कि तथ्य वस्तु स्थिति का होना है।

वस्तु स्थिति को समझाने में विटगेन्स्टाइन(विटगेन्सटीन) एक नये भाव विषय का सहारा लेते हैं। उन्होंने कहा कि 'वस्तु स्थिति विषयों का संघात है'। यदि हम किसी विषय को जानते हैं तो हम इसकी वस्तु स्थितियों में होने की सभी सम्भावनाओं को जानते हैं। विषय के स्वरूप को स्पष्ट करने से पहले एक स्पष्टीकरण यह है कि वस्तु का प्रयोग ढीले ढाले ढंग से भी होता है। जहां किसी चीज को वस्तु कह दिया जाता है। वैसे वस्तु शब्द का प्रयोग किसी सामान्य वस्तु जैसे मेज, कुर्सी, कलम आदि के लिए भी होता है। यह विशेष वस्तु है। विटगेन्स्टाइन ने विषयों को विशेष ही कहा है।

रसेल एवं विटगेंस्टीन सामान्यः यह तार्किक परमाणुवाद की मूल मान्यताओं से सहमत हैं तथापि तथ्यों के स्वरूप को लेकर दोनों में महत्वपूर्ण मतभेद परिलक्षित होते हैं। रसेल भावात्मक एवं निषेधात्मक

दोनों तथ्यों को स्वीकार करते हैं, किंतु विटगेंस्टीन के अनुसार तथ्य केवल भावात्मक होते हैं। इसी प्रकार रसेल विशेष व सामान्य दोनों तथ्यों को मान्यता देते हैं जबकि विटगेंस्टीन केवल विशेष तथ्य को स्वीकार करते हैं। रसेल के चिंतन में अभिप्रायात्मक तथ्य को स्वीकार किया गया है जबकि विटगेंस्टीन इसे नहीं मानते हैं तथ्यों के प्रकारों के संदर्भ में रसेल विशेष तथ्यों के अतिरिक्त सामान तथ्य को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यदि केवल विशेष तथ्यों को माना जाए, सामान्य तथ्यों को नहीं, तो फिर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि सामान्य कथन विशेष कथनों के सत्यता फलन हैं, जो तार्किक नहीं है।

रसेल के अनुसार सामान्य कथन विशेष कथनों के सत्यता फलन नहीं है, हमें सामान्य कथनों की सत्यता या असत्यता के लिए इनके अनुरूप सामान्य तत्व को मानना पड़ेगा। इसे हम एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं। जैसे–''सभी पुष्प लाल है'' इसे हम केवल ''यह पुष्प लाल है'' या 'वह पुष्प लाल है' आदि तर्कवाक्यों का संयोजन नहीं कह सकते, क्योंकि सभी पुष्पों का निरीक्षण करना संभव नहीं है। ऐसे निरीक्षण के आधार पर केवल यही कहा जा सकता है कि हमने जिन फूलों का निरीक्षण किया है वह सभी लाल हैं किंतु जब हम स्वीकार करेंगे कि जिन खुशबू की गणना एवं निरीक्षण किया गया है वहष सभी पुष्पोंष का निर्देश करते हैं। तभी हम कह सकते हैं कि सभी पुष्प लाल हैं।

उल्लेखनीय है कि विटगेंस्टीन निषेधात्मक तथ्य को नहीं मानते। उनके अनुसार निषेधात्मक तथ्य को मानने पर उनके अनुरूप वस्तु स्थिति के निर्माण की समस्या उत्पन्न हो जाती है। क्योंकि तथ्य वस्तुओं का संयोजन है और जगत तथ्यों की समग्रता है, इसलिए वस्तुओं के अभाव में तथ्य संभव नहीं है। इस आधार पर विटगेंस्टीन भावात्मक कथनों के सत्यता फलन के रूप में निषेधात्मक कथनों को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार स्वतंत्र रूप में निषेधात्मक कथनों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

रसेल विश्वास पर आधारित तथ्यों को स्वीकार करते हैं, जिन की अभिव्यक्ति सत्यता या असत्यता के संदर्भ में निश्चित नहीं है। जबकि विटगेंस्टीन इसे नहीं मानते हैं। रसेल के अनुसार विश्वास मूलक प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को स्पष्ट करने हेतु विश्वास को तथ्य मानना आवश्यक है। इसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए रसेल एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं,–जैसे 'श्याम विश्वास करता है कि पृथ्वी चपटी है' यहां कथन के दो हिस्से हैं, प्रथम– श्याम विश्वास करता है। द्वितीय– पृथ्वी चपटी है। इस कथन की सत्यता इसमें सम्मिलित वाक्यांश 'पृथ्वी चपटी है' से है।
यह वाक्यांश सत्य या असत्य हो सकता है किंतु इससे अप्रभावित रहते हुए वह व्यक्ति अपने विश्वास पर कायम रह सकता है।

इस प्रकार रसेल ऐसे तथ्यों पर विश्वास करते हैं जिनकी अभिव्यक्ति सत्यता या असत्यता के संदर्भ में निश्चित नहीं है। अर्थात रसेल के चिंतन में अणु तथ्य सभी प्रकार के तर्क वाक्यों की सत्यता या असत्यता स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। विशेष रुप से विश्वास को स्पष्ट करने में अणु तथ्य असमर्थ हैं। इसी कारण रसेल विश्वास को एक नवीन प्रकार का तथ्य मानते हैं। वस्तुवादी दार्शनिक मूर ने भी दृढ़ विश्वास पर आधारित कथनों को सामान्य या सहज ज्ञान में समाहित किया है।

10.6 विषय

विषय को समझने के लिए विटगेन्स्टीन के तथ्य वस्तु स्थिति की स्पष्ट समझ होना आचश्यक है। वस्तुओं की विशेष ढंग की व्यवस्था अर्थात वस्तुएं किस प्रकार से हैं? वस्तु स्थिति कहलाती है। इसी कम

में जो हैं तथ्य हैं अर्थात वस्तु स्थिति का होना तथ्य है। तथ्य वस्तु स्थिति का होना है। वस्तु स्थिति को स्पष्ट करने के लिए विटगेन्स्टीन विषय का सहारा लेते हैं। वे कहते हैं कि वस्तु स्थिति विषयों का संघात है। इस प्रकार विषय वस्तु स्थिति की संरचना का एक घटक है। विषय शब्द विशेषों के लिए प्रयुक्त होता है। देश, काल एवं रंग विषय के आकार हैं।

विटगेन्सटीन के विषय को अपने में अलग से समझने के बजाए उसकी एक सामान्य समझ अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि विषय चाह जो भी हो विलकुल सरल ही क्यों न हो उनका निश्चित उदाहरण देना सम्भव नहीं है। विषय का कोई निश्चित उदाहरण नहीं होना विटगेंस्टीन के दर्शन का कोई दोष नहीं कहा जा सकता कयोंकि विटगेंस्टीन ने कहा है कि –'अर्थ नहीं प्रयोगों को देखो।'

विषयों को हम इस प्रकार से समझने का प्रयास भी कर सकते हैं कि हर वस्तु स्थिति विषयों का कोई विशेष सम्बन्ध या विषयों की कोई व्यवस्था सूचित करती है। वस्तु–स्थिति की अवगति में स्पष्ट होता है कि यहां विशेष रूप से जो व्यवस्थित है वह विषय है। एक श्रृंखला की कड़ियों के समान जब विषय गुथते हैं तो वस्तु स्थिति की रचना होती है।इस प्रकार वस्तु स्थिति की संरचना में जो सरलतम अवयव हैं उन्हें विषय कहा गया है। ये विषय सम्बन्ध से आपस में संबंधित होते हैं।

10.7 निष्कर्ष

जिस प्रकार रसेल के तार्किक परमाणुवाद को समझना अनिवार्य है। उसी प्रकार ट्रैक्टेटस के विचारों को समझने के लिए जगत एवं भाषा से स्वरूप को जानना आवश्यक है। विटगेन्सटीन कहते हैं कि जगत जगत तथ्यों का समुच्चय है वस्तुओं का नहीं। जगत तथ्यों में विभाजित है लेकिन विटगेन्सटीन ने यह कभी नहीं कहा कि जगत तथ्यों से निर्मित है। विटगेन्सटीन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वस्तुएं ही जगत के उपादान हैं। यदि हमें संसार की वस्तुओं की सूची प्रदान कर दी जाए तो इससे संसार के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती। संसार के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें वस्तुओं के साथ–साथ उनके विन्यास की भी जानकारी होनी चाहिए।

10.8 सारांश

ट्रैक्टेटस पुस्तक में विटगेन्सटीन का प्रमुख उद्देश्य विचारों की अभिव्यक्ति की सीमा का निर्धारण करना है और यह कार्य विचारों के द्वारा नहीं अपितु भाषा के द्वारा ही संभव है। जगत तथ्यों का समुच्चय है और तथ्यों को जानने के लिए हमें वाक्य प्रतिज्ञप्ति, नाम विषय, वस्तु स्थिति के सम्प्रत्यय को समझना आवश्यक है।

वाक्य शब्दों अथवा पदों का वह समूह है जो सार्थक होता है। वहीं दूसरी ओर प्रतिज्ञप्ति वाक्य का वह अर्थ है जो सत्य या असत्य हो सकता है। नाम एक सरल वस्तु है। नाम में केवल 'निर्देश' तथा प्रतिज्ञप्ति में केवल 'तात्पर्य' पाया जाता है। नामों का जो अर्थ है उसे विषय कहते हैं। विषयों के विशेष सम्बन्ध या विषयों की विशेष व्यवस्था ही वस्तु स्थिति है। इस प्रकार हम विषयों की समझ से वस्तु स्थिति और वस्तुस्थिति की समझ से तथ्यों को समझ सकते हैं और तथ्यों की समझ से जगत को समझ सकते हैं। इस प्रकार विटगेस्टीन के प्रारंभिक दर्शन में हम यह जान पाते हैं कि भाषा के द्वारा हम जगत के विषय में कैसे और क्या जान सकते हैं।

10.9 बोध प्रश्न

1. तथ्य से किस प्रकार जगत की जानकारी प्राप्त होती है?
2. प्रतिज्ञप्तियां वस्तु स्थिति का वर्णन किस प्रकार करती हैं?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. ट्रैक्टेटस लाजिको फिलासाफिकस के दर्शन पर एक निबन्ध लिखिए।
2. पूर्वकालीन विटगेंस्टीन के अनुसार विषय वस्तु स्थिति एवं प्रतिज्ञप्तियां किस प्रकार जगत की स्पष्ट व्याख्या के लिए आवश्यक है?

10.10 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीनदर्शन का वैज्ञानिक इतिहास –जगदीश सहाय श्रीवास्तव , अभिव्यक्ति प्रकाशन, प्रयागराज।
2. समकालीन पाश्चात्य दर्शन – प्रो0 बी0के0 लाल, मोतीलाल बनारसीदस, दिल्ली।

....

खण्ड–4

लुडविग विटगेन्स्टाइन

इकाई–11 : प्रतिज्ञप्तियों का चित्र सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 तथ्य का चित्र

11.3 सरल तथ्य – सरल तर्कवाक्य

11.4 तीन शर्त

11.5 सत्ता का चित्र

11.6 कथन–प्रदर्शन

11.7 भाषा की सीमा

11.8 संशयवाद–रहस्यवाद

11.9 समीक्षा

11.10 निष्कर्ष

11.11 सरांश

11.12 प्रश्न बोध

11.13 उपयोगी पुस्तकें

----------------000---------------

11.0 उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई में हम यह जानेंगे कि –

- कोई वाक्य सार्थक कब होता है?
- भाषा में जगत को कैसे अभिव्यक्त किया जाता है?
- प्रतिज्ञप्तियां तथ्यों का चित्रण कैसे करती हैं?

- प्रतिज्ञप्ति की सार्थकता एवं प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता असत्यता में क्या संबंध है?
- किस प्रकार की प्रतिज्ञप्तियां सार्थक होती हैं और किस प्रकार की प्रतिज्ञप्तियां निरर्थक होती हैं?
- क्या कहा जा सकता है? और क्या दिखाया जा सकता है?

11.1 प्रस्तावना

बोध युक्त प्रतिज्ञप्तियां अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्ति होती है जैसे विज्ञान के कथन अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्ति के संबंध में भाषा व तथ्यों के मिलन विन्दु पर ध्यान देना महत्वपूर्ण हैं। अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियां वे हैं जो वस्तु स्थिति का बोध कराएं। वस्तु स्थिति का होना ही तथ्य है। भाषा से हमें क्या जानकारी प्राप्त होती है? भाषा से हमें वस्तु स्थिति की या तथ्यों की जानकारी प्राप्त होती है। अर्थात अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियां तथ्यों को चित्रित करती हैं। चित्रण से तात्पर्य है कि वह कौन सी स्थिति है जिसका प्रतिज्ञप्ति में विवरण है। यदि प्रतिज्ञप्ति का उचित प्रतिरूपण न करे तो प्रतिज्ञप्ति का अर्थबोध नहीं हो सकता। प्रतिज्ञप्तियों के चित्र तार्किक चित्र हैं। तार्किक प्रतिरूपण हैं। प्रतिरूपण तार्किक तब होते हैं जब प्रतिरूपण की शर्तें पूरी होती हों। प्रतिज्ञप्ति का तार्किक आधार वैसा ही है जैसा कि उससे चित्रित होने वाले का तार्किक आकार। प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति का तार्किक आकार है नामों का विशेष रूप से संबंधित होना। तथ्य वस्तुस्थिति का होना है। जिसका तार्किक आकार है विषयों का विशेष रूप से संबंध प्रति ज्ञप्ति वस्तु स्थिति का चित्रण तभी कर सकती है जब वे दोनों तार्किक आधार एक जैसे हैं अर्थात जिस प्रकार से नाम एक दूसरे से संबंधित है उसी प्रकार से वस्तु स्थिति में विषय संबंधित हो। अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता असत्यता प्रागनुभविक रूप में नहीं निर्धारित होती।

11.2 तथ्य का चित्र

समकालीन दार्शनिक पूर्ववर्ती विटगेंस्टाइन के समक्ष मुख्य समस्या यह होती है कि किस प्रकार की भाषा सार्थक अर्थ को प्रगट करती है। तर्कवाक्य जो केवल कुछ नामों का समूह है वह कैसे तथ्य का निरूपण कर सकता है इसका समाधान पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन चित्र सिद्धांत में करते हैं। पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन मानते हैं कि भाषा व जगत में अन्तर होता है, तथापि अन्तर के होते हुए भी जगत के विषय में कथन कर सकते हैं जिस प्रकार किसी चित्र द्वारा चित्रित वस्तु का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार किसी सरल तर्कवाक्य द्वारा निरूपित तथ्य का ज्ञान हो जाता है इसलिए पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन कहते हैं कि कोई तर्क वाक्य सार्थक होता इसलिए है क्योंकि वह तथ्य का चित्र होता है।

सर्वप्रथम पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन जगत पर विचार करते हुए कहते हैं कि जगत वस्तुओं की समग्रता नहीं बल्कि तथ्यों की समग्रता है। वस्तुएं सरल हैं और सरल वस्तुओं का संयोजन ही तथ्य कहलाते हैं। अब तथ्य सरल है और प्रत्येक तथ्य अन्य तथ्यों से भिन्न व सरल है इन्ही तथ्यों की समग्रता ही जगत है। पुनः भाषा का विश्लेषण सरल प्रतिज्ञप्तियों में किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा सरल प्रतिज्ञप्ति दूसरी सरल प्रतिज्ञप्तियों से भिन्न है सरल प्रतिज्ञप्ति सतता निश्चित

प्रतिज्ञप्तियां हैं जिससे भाषा का स्वरूप बनता है। जिस प्रकार जगत का विभाजन सरल तथ्यों में होता है उसी प्रकार भाषा का विभाजन प्रतिज्ञप्तियों में होता है।

11.3 सरल तथ्य – सरल तर्कवाक्य

उपर्युक्त व्याख्या से पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सरल प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ वह वस्तु स्थिति है जिसका वर्णन प्रतिज्ञप्तियों द्वारा किया जाता है अर्थात सरल प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ अणु तथ्य है जब प्रतिज्ञप्तियों के अनुसार वास्तविक तथ्य का वर्णन होता है तब वह सत्य होती है और जब वर्णन नहीं होता है तब प्रतिज्ञप्ति असत्य होती है इसलिए सरल प्रतिज्ञप्तियां अणु तथ्यों की चित्र होती हैं। वस्तुतः पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन इन सरल तर्कवाक्य व उसके द्वारा अभिव्यक्त सरल तथ्यों के आकार में समरूपता मानते हैं। इसी आकारिक समरूपता के कारण वह तथ्य का चित्र होता है तर्कवाक्य केवल नामों का समूह नहीं होता अपितु सम्बद्ध श्रृंखला के रूप में व्यवस्थित होने से स्वयं एक तथ्य होता है। इसी कारण वह सार्थक भी है यद्यपि तर्क वाक्य को तथ्य का चित्र होने के लिए तीन शर्तों को पूर्ण करना होता है।

11.4 तीन शर्त

प्रथम शर्तानुसार प्रतिज्ञप्ति एवं तथ्यों की अवयवों की संख्या समान होनी चाहिए अर्थात दोनों की संख्या की अनुसार एक–एक के अनुरूपता का अवयव अनिवार्य है अणु तथ्य में जितनी वस्तुएं सरल तर्कवाक्य में उतने ही नामों का होना अनिवार्य है। द्वितीय शर्तानुसार अवयवों की समानता ही पर्याप्त नहीं बल्कि इसके लिए आकारों का समान होना भी आवश्यक है जो आकार अणु तथ्य का है वही आकार सरल तर्कवाक्य का होना चाहिए यहां बेटगेंस्टाइन तार्किक आकार पर तब देते हैं जिस क्रम में वस्तुएं तथ्य के अन्तर्गत होती है उसी क्रम में प्रतिज्ञप्ति के अन्तर्गत नाम होने चाहिए। तृतीय वार्तानुसार सरल तर्कवाक्य तथ्य का चित्र होने के लिए प्रक्षेपण के नियम व वस्तु का पारस्परिक संबंध स्थापित किया जा सके। भाषा व सत्ता में प्रक्षेपण के नियम का तात्पर्य है कि वाक्यों को सुनकर तथ्य का ज्ञान हो जाये तथा तथ्य का वर्णन तर्क वाक्य में किया जा सके। पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन के अनुसार जैसे संगीत में राग लिपि को देखकर उस विशेष राग को जाना जाता है। पुनः राग को सुनकर लिपि का ज्ञान हो जाता है। ऐसा ही संबंध भाषा व सत्ता में होना चाहिए। विचर के शब्दों में प्रक्षेपण नियम द्वारा वाक्य ज्ञात रहने पर तथ्य रहता है और तथ्य ज्ञात रहने पर वाक्य का पता चल जाता है।

11.5 सत्ता का चित्र

उपर्युक्त नियमों के होने पर कोई भी तर्क वाक्य अपने अनुरूप तथ्य का चित्र हो सकता है सरल तर्कवाक्य सीधे–सीधे सत्ता का चित्र होता है जबकि जटिल या मिश्रित तर्क वाक्य, सरल तर्क वाक्यों के माध्यम से सत्ता का चित्र होते है। अर्थात निश्चित प्रतिज्ञप्तियां सरल प्रति ज्ञप्तियों की सत्यता फलन होती

है। पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन मानते हैं कि साधारण भाषा के वाक्यों का विश्लेषण यदि सरल प्रतिज्ञप्तियां हो जाता है तो साधारण भाषा की वाक्यों की सार्थकता का निर्धारण भी हो सकता है।

इस प्रकार चित्र सिद्धांत को स्थापित कर पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन सार्थक या निरर्थक कथनों में अन्तर स्थापित करते हैं जो सरल प्रतिज्ञप्ति अणु तथ्यों का चित्र है वही सार्थक है और जो अणु तथ्यों का चित्र नहीं है वह निरर्थक है इसलिए तत्व मीमांसा मूल्यात्मक कथन, नैतिक निर्णय एवं धार्मिक भाषा निरर्थक है क्योंकि यह किसी तथ्य का चित्र नहीं है सार्थक रूप से प्राकृतिक विज्ञानों से सम्बन्धित प्रतिज्ञप्तियों को स्वीकार किया जा सकता है।

11.6 कथन–प्रदर्शन

विटगेन्स्टाइन अपनी प्रथम पुस्तक ''ट्रैक्टेटस' में प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता चित्र सिद्धांत द्वारा निर्धारित करते हैं उनके अनुसार भाषा जगत को व्यक्त करती अर्थात प्रतिज्ञप्ति तथ्यों का चित्र है इसलिए केवल तथ्यों के सन्दर्भ में ही सार्थक कथन किया जा सकता है। किन्तु यहां यह समस्या होती है कि जो तथ्य नहीं है उनके सन्दर्भ में कैसे कथन सम्भव है। इस मसस्या के सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन ''जो कहा जा सकता है और जिसे दिखाया जा सकता है'' में भेद करते हैं।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार कुछ चीजें ऐसी हैं जिनका कथन नहीं हो सकता जैसे भाषा और प्रतिज्ञप्ति का तार्किक आधार क्या है? भाषा एवं जगत का सम्बन्ध क्या है? तत्व मीमांसा से संबंधित निरर्थक कथन कैसे सम्भव है? इसके बारे में सार्थक रूप से नहीं कहा जा सकता है, दूसरे शब्दों में –भाषा के द्वारा हम जगत को व्यक्त करते हैं किन्तु जगत को व्यक्त करने वाली भाषा क्या है अथवा वास्तविक रूप में इसके तार्किक आधार क्या हैं इसे भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यदि यद्यपि हम कुछ कह नहीं सकते किन्तु भाषा के तार्किक आधार को प्रदर्शित या दिखलाया जा सकता है। वस्तुतः विटगेन्स्टाइन चित्र सिद्धांत के आधार पर यह कहते हैं कि प्रतिज्ञप्तियों का चित्रण करती है किन्तु इनके सम्बन्ध को कथनों के द्वारा व्यक्त करने के बजाए प्रदर्शित किया जा सकता है।

विटगेन्स्टाइन मे अनुसार भाषा अपने भाषीय लक्षणों के बारे में सार्थक रूप से कुछ नहीं कह सकती किन्तु ऐसा कहने के लिए उसे भाषा की सीमा से परे जाकर भाषा को देखना होगा ऐसा करना सम्भव नहीं है अतः यही भाषा की सीमा है। इसी कारण ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि जो कुछ कहा जा सकता है उसका क्षेत्र सीमित होता है क्योंकि हमारी भाषा सार्थक कथनों तक सीमित है इसलिए जगत की सम्पूर्णता के बारे में कोई विवरण सम्भव नहीं है।

11.7 भाषा की सीमा

अब यहां प्रश्न उठता है कि यदि हमारी भाषा की सीमा जगत की सीमा है तो भी जगत की सीमा से परे है हम उस सम्बन्ध में कुछ कथन कर सकते हैं? इस सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन स्पष्ट करते हैं कि केवल तथ्यों के बारे में ही स्पष्ट एवं सार्थक रूप से कहा जा सकता है। अतः जो तथ्य नहीं है उन्हें देखा कहा नहीं जा सकता किन्तु उसे प्रदर्शित तो कर ही सकते हैं। भाषा के तार्किक आधार तथ्य नहीं है मूल्य भी इस जगत की सीमा से परे है। तत्व मीमांसीय कथन रहस्यात्मक है जो किसी तथ्य को व्यक्त नहीं

करते इसलिए इन सभी के सन्दर्भ में सार्थक रूप से कथन संभव नहीं है। ट्रैटेटस के अन्त में विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि ''जिसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है वहां मौन रहना चाहिए।''

किन्तु यदि जो निरर्थक कथन है उसके बारे में कुछ कैसे कहा जा सकता है अर्थात यह कैसे ज्ञात होगा कि कोई भी बात अकथनीय है? विटगेंन्सटाइन का उत्तर है कि जो अकथनीय है वह झलक जाता है हम इसे भाषा में बांध नहीं सकते अर्थात अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियां अपने तार्किक रूप के कारण वस्तु स्थिति को प्रतिष्ठित करती हैं और जो कुछ इसके परे है वह झलक जाता है।

भाषा के तार्किक स्वरूप को स्पष्ट करने के संन्दर्भ में रसेल का सुझाव उल्लेखनीय है। किस पहले वस्तु भाषा होती है जो प्रथम स्तर है इसके बाद दूसरे स्तर की भाषा होती है जिससे पहले स्तर की भाषा का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है किन्तु रसेल के स्पष्टीकरण को अस्वीकार करके विगेन्स्टाइन कहते हैं कि भाषा के प्रयोग में ही उसका स्परूप स्पष्ट हो जाता है अर्थात उनकी रचना में ही उनका स्वरूप प्रदर्शित हो जाता है।

यहां बौद्ध दार्शनिकों कसे इस अर्थ में तुलना की जा सकती है जो अव्याकृत प्रश्नों पर मौन रहने की सलाह देते हैं। विगगेन्स्टाइन कहते हैं कि जिसका कथन किया जा सकता है उसका स्पष्ट रूप से कथन करना चाहिए और जिसका कथन नहीं किया जा सकता उसके बारे में मौन रहना चाहिए। यहां रैम्जे की टिप्पणी उल्लेखनीय है कि जिसे कहना चाहिए उसे स्पष्ट रूप से कहना चाहिए सीटी बजाकर नहीं।

11.8 संशयवाद—रहस्यवाद

विटगेन्सटाइन द्वारा कथन और प्रदर्शन में किए गए भेद से शंका उत्पन्न होती है कि क्या ऐसे कथन हमें संशयवाद की ओर नहीं ले जाते। ह्यूम ने भी ईश्वर आत्मा आदि का निराकरण कर अपने दर्शन की परिणति संशयवाद में कर ली थी किन्तु विटगेन्स्टाइन को संशयवादी नहीं कहा जा सकता। ट्रैक्टेटस में संशयवाद के खण्डनार्थ कहा गया है कि शंका वहीं हो सकती है जहां प्रश्न की संभावना हो ओर प्रश्न वहीं उभरकर सामने आता है जहां उत्तर की संभावना हो और उत्तर वहीं दिया जा सकता है जहां कुछ कहने लायक हो इसलिए जहां पर कुछ कुछ कहने की स्थिति नहीं है वहां पर संशय भी नहीं किया जा सकता। अतः संशयवाद का विटगेन्स्टाइन के दर्शन में कोई स्थान नहीं हैं

विटगेन्सटाइन द्वारा रहस्यात्मक शब्द का प्रयोग किए जाने पर यह भ्रम हो सकता है कि रहस्यवादी दार्शनिक तो नहीं। इस सन्दर्भ पर स्वयं विटगेंन्स्टाइन का स्पष्टीकरण है कि ऐसे कथन जिनके सन्दर्भ में कुछ दर्शाया जा सकता है अथवा जिसे प्रदर्शित तो किया जा सकता है किन्तु उसे कह नहीं सकते तो प्रकाशन्तर में इन्हें रहस्यात्मक कहना यथोचित है।

11.9 समीक्षा

पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन के चित्र सिद्धांत की समीक्षा में विलवर्ट राइल अपने लेख सिस्टमेटिक मिसलीडिंग एक्सपैशन्स में कहते हैं कि किसी तर्क वाक्य या तत्व में उस प्रकार की आकारिक समरूपता नहीं होगी जैसा बेटगेंस्टाइन मानते हैं पुनः तथ्य वस्तुओं का संयोग नहीं है और तथ्यों को मान्यता देकर बेटगेंस्टाइन प्राथमिक भूल करते हैं।

स्ट्रांसन के अनुसार तथ्य का प्रयोग किसी सत्ता के लिए आवाश्यक नहीं है क्योंकि अस्तित्व केवल वस्तुओं का है तथ्यों का नहीं। जैसे सूर्य पूरब से निकलता है एक घटना है। पुनः आस्टिन तथ्यों को तो स्वीकार करते हैं किंतु वे ये नहीं मानते कि तथ्य वस्तुओं की समग्रता है।

चित्र सिद्धांत में आदर्श भाग को महत्व दिया गया है समस्या हो कसती है। सभी तथ्यों को आकारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। यद्यपि तर्कशास्त्री आई.एन. ओपी तर्क वाक्यों की अनेक आयामों में लिखकर व्यक्त करने का दावा करते हैं किन्तु इससे भाषा का परम्परागत स्वरूप सुरक्षित नहीं रह पाता क्योंकि हम भाषा को एक आयाम में ही लिखते हैं।

बिटगेंस्टाइन सरल वस्तुओं का उल्लेख करते हैं किन्तु एक सन्दर्भ के आधार पर जो वस्तु सरल है वह दूसरे के आधार पर जटिल हो सकती है अतः इस आधार पर चित्र सिद्धांत तार्किक नहीं है जिससे सार्थक तथा निरर्थक का किया गया विभेद भी औचित्यहीन हो जाता है।

चित्र सिद्धांत की कमियों पर उत्तरवर्ती बेटगेंस्टाइन स्वीकार करते हैं कि इसमें अर्थ पूर्णता के वास्तविक तात्पर्य को नहीं समझा जा सका। इसलिए यह भ्रान्तिपूर्ण सिद्धांत है जिसे दो आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है।

प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार भाषायी व्यवहार का सूक्ष्म लक्ष्य है कि प्रत्येक के अभिप्राय के अनुरूप सकल हो इसे वे न स्वीकार करके चित्रण सिद्धांत का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। भाषा का कार्य वस्तु स्थिति की सूचना देना हो सकता है किन्तु इससे यह समझ लेना गलत होगा कि हर कचन किसी वस्तु स्थिति को सूचित करता है तथा प्रत्येक शब्द किसी का नाम है जैसे भवन निर्माण कर रहा मिस्त्री ईंट, सीमेंट आदि कहता है तथा उसका सहायक उसी क्रम में वस्तुओं को देता है यहां भाषायी व्यवहार का उद्देश्य है कि जिस क्रम में शब्द कहे जा रहे हैं उसी क्रम में उसे सामग्री मिलती जाये। यहां भाषा की अर्थपूर्णता इससे तय नहीं होती कि सहायक के मन में कोई चित्र उत्पन्न हुआ कि नहीं।

पुनः भाषा के सीखने के जो प्रारम्भिक ढंग है उसमें चित्रण करना आवाश्य होता है यदि ऐसा नहीं होता तो सहायक ईंट के उच्चारण पर कोई अन्य वस्तु दे देना। यहीं उत्तरवर्ती बेटगेंस्टाइन स्वीकार करते हैं कि भाषायी व्यवहार को सीखने का यही ढंग है किन्तु इससे चित्रण सिद्धांत ठीक नहीं हो जाता। मूल समस्या अर्थ की है क्योंकि संदर्भ परिवर्तित होने पर इस वस्तु से चिन्हित अर्थ में परिवर्तन को जाता है। इसलिए भाषायी व्यवहार की सार्थकता उसके व्यावहारिक प्रयोग पर ही आधारित हो सकती है।

द्वितीय दृष्टिकोण में प्रमुख आपत्ति है कि पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन संदर्भों की अवहेलना करते हैं वे मानते हैं कि अर्थ पूर्णता का सदैव एक विशेष संदर्भ होता है। प्रत्येक कथन एक विशेष संदर्भ में अर्थवान होता है। ऐसा नहीं है कि कोई कर्थन सदैव के लिए प्रत्येक सन्दर्भ में अर्थवान हो सके। उत्तरवर्ती बेटगेंस्टाइन मानते हैं कि किसी भी भाषा के शब्द वाक्य आदि किसी बक्से में भरे विभिन्न प्रकार के औजारों के समान है। यह ठीक है कि प्रत्येक औजार प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता किन्तु यह भी सत्य है कि प्रत्येक औजार अनेक ढंग से कार्य कर सकता है (रिन्च का प्रयोग मक्खी मारने में भी किया जा सकता है)। अतः हमें भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि प्रत्येक शब्द एवं वाक्य का पृथक–पृथक कोई निश्चित अर्थ होता है।

स्पष्टतः पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन भाषा या तथ्यों के वास्तविक विश्लेषण पर ध्यान दिया होता तो चित्र सिद्धांत संभव ही नहीं होता। भाषा प्रागनुभविक विश्लेषण के कारण चित्र सिद्धांत स्वीकार किया गया जिसे स्वयं उत्तरवर्ती बेटगेंस्टाइन असमाधेय विरोधाभास में युक्त मानते हैं। अपनी पुस्तक 'फिलासाफिकल इनवेस्टिगेशन' में कहते हैं कि शब्दों का कोई भी निश्चित अर्थ नहीं होता अतः अर्थ में बजाय प्रयोग को देखना चाहिए, तथापि भाषा के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए चित्र सिद्धांत उपयोगी है।

विटगेन्सटाइन कथन एवं प्रदर्शन में भेद अपने चित्र सिद्धांत द्वारा करते हैं यद्यपि चित्र सिद्धांत स्वयं कमितयों से ग्रस्त है। राइल अपने लेख में कहते हैं कि किसी वाक्य या तथ्या में उस प्रकार की आकारिक समरूपता नहीं होती जैसा कि विटगेन्स्टाइन मानते हैं। स्ट्रासन के अनुसार तथ्य का प्रयोग किसी सत्ता हेतु आवश्यक नहीं क्योंकि अस्तित्व तथ्यों का नहीं अपितु वस्तुओं का है। अतः चित्र सिद्धांत के अतार्किक होने से कथन एवं प्रदर्शन के विभेद का औचित्य समाप्त हो जाता है।

जो दार्शनिक चित्र सिद्धांत को स्वीकार करते हैं वही कथन एवं प्रदर्शन में अन्तर कर सकते हैं। जबकि वास्तविकता में इसका अन्तर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः विटगेन्सटाइन ने भाषा या तथ्यों के वास्तविक विश्लेषण पर ध्यान दिया होता तो न तो चित्र सिद्धांत सम्भव होता और न कथन प्रदर्शन के विभेद की समस्या उत्पन्न होती। स्वयं विटगेन्स्टाइन चित्र सिद्धांत में असमाधेय विरोधाभास को स्वीकार करते हैं ''फिलासाफिकल इनवेस्टिगेशन'' में उन्होंने कहा है कि शब्दों का कोई भी अर्थ निश्चित नहीं होता अतः –'अर्थ मत पूछो।'

11.10 निष्कर्ष

विटगेन्स्टाइन द्वारा ट्रैक्टेटस में कही गयी बातें ठीक नहीं है। तो क्या ट्रैक्टेटस निरर्थक है? विटगेन्स्टाइन स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि ट्रैक्टेटस की भाषा निरर्थक है फिर भी इसकी आवश्यकता है। क्योंकि इसके द्वारा भाषा और जगत के तार्किक आकारों को व्यक्त किया जाता है। यह भाषा सीढ़ी के समान है जिसका उपयोग छत पर चढ़ने के उपरान्त समाप्त हो जाता है। सेलर्स महोदय इसे सीढ़ी भाषा () कहते हैं। वस्तुतः भाषा एवं जगत के तार्किक आकारों को स्पष्ट करने में कथन एवं प्रदर्शन सम्बन्धी व्याख्या महत्वपूर्ण योगदान करती है।

11.11 सारांश

ट्रैक्टेटस के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान की प्रतिज्ञप्तियां अर्थपूर्ण होती हैं। इसके बाहर अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियां दी ही नहीं जा सकती। यदि ऐसा है तो दो समस्याएं उठेंगी पहली यदि दर्शन अर्थपूर्ण ढंग से कुछ नहीं कह सकता तो इसका कार्य क्या है? दूसरी दार्शनिक कथन प्राकृतिक विज्ञान के कथन नहीं हैं। अतः निरर्थक हैं तो दार्शनिक कथनों का अम्बार लगाने का क्या प्रयोजन है?

पहली समस्या के समाधान में विटगेंस्टीन का यह जवाब है कि पहली समस्या इस कारण जन्म लेती है क्योंकि हम दर्शन से भी यह अपेक्षा करने लगते हैं कि वह कोई सूचना दे या सिद्धांत दे। दर्शन भौतिकी या रसायन शास्त्र के समान सत्य प्रतिज्ञप्तियां स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करता। यह कोई सिद्धांत/वाद नहीं है। दर्शन एक क्रिया है। यह क्रिया प्रतिज्ञप्तियों में निहित भ्रांतियों, अस्पष्टता को दूर कर स्पष्टीकरण करके समुचित व्याख्या करे। जो कहा जा सकता है वे प्राकृतिक विज्ञान तथा अनुभव की

अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियां हैं। विज्ञान/अनुभव की इस सीमा के बाहर यदि कुछ गया तो दर्शन का 'कार्य' है कि वह दिखा दे कि जो कहा जा रहा है वह कोई अर्थबोध नहीं देता।

दूसरी समस्या के समाधान में विटगेंस्टीन का कहना है कि यदि कोई ऐसा कुछ कहता है जो नहीं कहा जा सकता जो प्राकृतिक विज्ञान के परे 'अकथनीय' है तो दर्शन उसे बताता रहे कि वज जो कुछ भी कह रहा है बह कोई अर्थबोध नहीं दे रहा है। दार्शनिक उक्तियां एवं सीढ़ी या सोपान जैसी हैं जिनके द्वारा ऊपर पहुंच जाने पर सीढ़ी को त्याग देना अनिवार्य है।

11.12 प्रश्न बोध

लघु उत्तरीय

1. क्या कहा जा सकता है और क्या दिखाया जा सकता है से क्या तात्पर्य है?
2. विटगेन्स्टीन के अनुसार दर्शनशास्त्र का क्या कार्य है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. विटगेंस्टीन के चित्र सिद्धांत से हमें क्या ज्ञात होता है?
2. विटगेंस्टीन के ट्रैक्टेटस मुख्य विन्दुओं पर प्रकाश डालिए।

11.13 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास, जगदीश सहाय श्रीवास्तव, अभिव्यक्ति प्रकाशन
2. समकालीन पाश्चात्य दर्शन –प्रो0 बी0के0 लाल, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

खण्ड : 4

लुडविग विटगेन्स्टाइन

इकाई–12 : अर्थ का प्रयोग सिद्धांत

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य –

12.1 प्रस्तावना

12.2 फिलोसाफिकल इन्वेस्टिगेशन

12.3 पूर्ववर्ती विटगेन्स्टाइन

12.4 चित्र सिद्धांत एवं कथन प्रदर्शन

12.5 सरल तथ्य – सरल तर्कवाक्य

12.6 गलत भाषायी प्रयोग

12.7 चित्र के बन्दी

12.8 सोचो नहीं देखो

12.9 निष्कर्ष

12.10 सरांश

12.11 प्रश्न बोध

12.12 उपयोगी पुस्तकें

......................0000000......................

12.0 उद्देश्य –

इस इकाई का उद्देश्य विटगेंस्टाइन के अर्थ एवं प्रयोग से सम्बन्धित अवधारणाओं को स्पष्ट करना है। पूर्ववर्ती विटगेंस्टाइन के विचारों में परिमार्जन होने के बाद अर्थ के बजाए प्रयोग पर बल देकर दार्शनिक समस्याओं का समाधान करने की पद्धति को समझाना हैं भाषा के विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से दार्शनिक समस्याओं के विश्लेषण करने की विधि को स्पष्ट हो जाती है।

12.1 प्रस्तावना

दार्शनिक समस्याओं पर चिंतन करते हुए विटगेन्सटाइन ने प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता में अर्थ को केन्द्र में रखकर चित्र सिद्धांत प्रस्तुत किया। अपनी प्रथम पुस्तक ट्रैक्टेटस में अर्थ के चित्र सिद्धांत को सभी समस्याओं का समाधान मानलिया तथापि वैभाषिक विकासक्रम में महसूस हुआ कि अर्थ को मात्र सार्थकता की इकाई मात्र होने से दार्शनिक समस्यायों का समाधान नहीं किया जा सकता। इस क्रम में उन्होंने अपनी पुस्तक फिलासाफिकल इन्वेस्टिगेशन में दार्शनिक समस्याओं का समाधान भाषा के अलग–अलग प्रयोगों के माध्यम से किया है।

12.2 फिलोसाफिकल इन्वेस्टिगेशन

लुडविग विट्गेन्टाइन कृत फिलासोफिकल इन्वेस्टिगेशंस में प्रतिपादित सिद्धान्तों ने दुनिया भर में दार्शनिक सोच को एक नई दिशा दी है। इसमें विकसित की गयी प्रणाली का प्रभाव ज्ञान के किसी भी क्षेत्र में चाहे वह मनोविज्ञान हो या साहित्य, समाज ज्ञान हो या भाषा विज्ञान सब पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से देखा जा सकता है। इसमें प्रतिपादित सिद्धांतों और विकसित पद्धति से मतभेद रखने वाले दार्शनिक भी इस कृति की उपेक्षा नहीं कर सकते।

इसमें भाषा तथा दर्शन के सम्बन्ध में एक पूर्णतया मौलिक दृष्टि स्पष्ट हुई है। भाषीय व्यापार तथा दर्शन के कार्य और इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में एक सर्वथा नवीन विचार प्रतिपादित हुआ है। यह ट्रैक्टेटस में विकसित विचारों की आलोचना से प्रारम्भ होता है और विभिन्न स्तरों से होता हुआ भाषीय खेल की अवधारणा तक पहुंच जाता है, तथा उसके स्वरूप व ढंग की विवेचना करता है। इसी विवेचना में यह स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक समस्याएं कैसे उत्पन्न होती हैं, तथा उनके निदान में भाषीय खेल का योगदान कैसे होता है। दृष्टि के अनुरूप भाषीय खेल की एक विधि स्पष्ट होती है। इनमें अनेकों उदाहरण दर्शन के पारम्परिक समस्याओं के उदाहरण हैं। मूलतः मन सम्बन्धित विचार, संवेदना, वैयक्तिक भाषा, अन्यमन का ज्ञान, तार्किक अनिवार्यता तथा निश्चितता जैसे विचारों का इस विधि से विश्लेषण हुआ है। हर ऐसे भाषीय विश्लेष्ण में उस क्षेत्र की समस्याओं पर उपयोगी प्रकाश पड़ा है। इसी कारण विटगेन्सटीन ने प्रारम्भ में ही इस पुस्तक को विभिन्न चित्रों का एलबम कहा था।इन्वेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन इस विचार का खण्डन करते हैं। उनके इस खण्डन प्रयत्न के मूल में यह दृष्टि है कि किसी ऐसी आदर्श पूर्णता नियमनिष्ठ एवं तर्कतः निश्चित भाषा को इतना महत्व देना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

12.3 पूर्ववर्ती विटगेन्स्टाइन

समकालीन दार्शनिक रसेल की दृष्टि से दर्शन की मुख्य समस्या यह है कि किस प्रकार जगत की वस्तुओं एवं संरचनाओं को भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाए? भाषा का उद्देश्य ही है जगत की संरचनाओं को व्यक्त करना। भाषा एक प्रकार से सत्ता का दर्पण या चित्र है इसलिए भाषा की संरचना के माध्यम से जगत की संरचना पूरी तरह से व्यक्त होनी चाहिए। इस समस्या का समाधान रसेल भाषाई विश्लेषण से करते हैं और ज्ञान मीमांसा दृष्टि से भाषा की सरलता इकाई पर ध्यान देते हैं. उनके अनुसार जिस प्रकार भौतिक जगत की सृष्टि परमाणुओं से हुई है ,उसी प्रकार भाषा भी छोटे–छोटे अवयव से बनी

है, अतः भाषाई परमाणु तक पहुंचने का मार्ग विश्लेषण है और यही विश्लेषण तार्किक परमाणु वाद कहलाता है।

भाषा की दृष्टि से जो सरलतम इकाई है वही जगत की भी सरलतम इकाई होती है, क्योंकि भाषा सदैव सत्ता का वर्णन करती है और उसके तार्किक विश्लेषण द्वारा किसे सरल माना जाए यही तार्किक परमाणु वाद की खोज का आधार है जिसका संबंध रसेल एवं पूर्ववर्ती विंगेंस्टाइन से है। तार्किक परमाणुवाद का सर्वप्रथम प्रयोग रसेल द्वारा किया गया .उनके अनुसार, सामान्यतरू परमाणु का अर्थ हैश वह सरलतम अवयव जिसका आगे विभाजन संभव नहीं हैश और भाषा में इसकी खोज तार्किक विश्लेषण द्वारा की जा सकती है .अतः रसेल के अणु भौतिक ना होकर तार्किक है, जिससे इनके सिद्धांत को तार्किक परमाणुवाद कहते हैं।

इसके दो पक्ष तार्किक एवं तात्विक है. तार्किक पक्ष का संबंध भाषा से है. तात्विक पक्ष का संबंध तत्व मीमांसीय निष्कर्षों से है. इस दर्शन को अणुवादी या परमाणुवादी इसलिए भी कहते हैं क्योंकि यह अन्य परमाणुवादियों की तरह तत्व मीमांसा से संबंधित है तथा जगत की व्याख्या कुछ सरलतम अविभाज्य तथ्यों के आधार पर करता है।

इन प्रतिज्ञप्तियों को तथ्य के आधार पर सत्य या असत्य सिद्ध किया जाता है। जैसे सुकरात जीवित नहीं है– यह सत्य है जबकि सुकरात जीवित है –यह असत्य है। अणुतथ्य को व्यक्त करने के लिए जिस कथन का उपयोग होता है, उसे अणु प्रतिज्ञप्ति या सरल प्रतिज्ञप्ति कहते हैं। यह सरलतम होते हैं, जिसमें एक ही विशेष या उद्देश्य होता है और उसी वस्तु के संदर्भ में गुण सूचित किया जाता है, जिसको विधेय या क्रिया के द्वारा व्यक्त करते हैं। जैसे–गुलाब लाल हैं एक अणु प्रतिज्ञप्ति है जो कि अणुतथ्य को निर्देश करती है।

पुनः अणु प्रतिज्ञप्ति के भीतर कई घटक जुड़ सकते हैं। घटकों के बढ़ने से तथ्य नहीं बढ़ते जिसे भाषा व्यक्त कर रही है। जैसे–गुलाब लाल है, में दो घटक है प्रथम गुलाब, द्वितीय लाल य इस प्रकार भाषायी घटकों द्वारा सरल तथ्यों को व्यवस्थित किया जाता है। अणु वाक्यों से मिलकर आण्विक या शमिश्रित प्रतिज्ञप्ति बनते हैं।

दो या दो से अधिक अणु प्रतिज्ञप्तियों को यदि; या; और; जैसे शब्दों से जोड़ा जाता है, तो वह आण्विक वाक्य कहलाते हैं। इस प्रकार के आण्विक प्रतिज्ञाप्तियों या मिश्रित वाक्य के तथ्य निर्देश में उनमें निहित अणु प्रतिज्ञप्तियों के तथ्य निर्देशों पर आधारित होता है। इनकी सत्यता का निर्धारण अणुवाक्यों की सत्यता से होता है। इस प्रकार के आण्विक प्रतिज्ञाप्तियों की सत्यता, असत्यता हेतु फलनात्मक विधि का प्रयोग होता है, जिसे प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र में सत्यता सारणी द्वारा सत्य या असत्य सिद्ध किया जाता है।

स्पष्ट है भाषा की सरलतम इकाई नाम है और जगत की सरलतम इकाई वस्तु है। नामों का क्रमबद्ध ंयोजना प्रतिज्ञप्ति है और वस्तुओं का क्रमबद्ध संयोजन तथ्य है। सरल तर्कवाक्यों (प्रतिज्ञप्तियों) के मिलन से भाषा बनती है और सरल तथ्यों के मिलने से जगत बनता है। सरल प्रतिज्ञप्ति भाषा के दृ ष्टिकोण से सार्थकता को निर्धारित करती है। यदि सरल प्रतिज्ञप्तियों के अनुरूप सरल तथ्य है तो प्रतिज्ञप्ति सत्य होगी यदि ऐसा नहीं है तो प्रतिज्ञप्ति असत्य होगी। उपर्युक्त व्याख्या कर तार्किक

परमाणुवादी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं की भाषा जगत का चित्रण करती है क्योंकि तर्कवाक्यों की समग्रता भाषा है और तथ्यों की समग्रता जगत है।

12.4 चित्र सिद्धांतएवं कथन प्रदर्शन

समकालीन दार्शनिक पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन के समक्ष मुख्य समस्या यह होती है कि किस प्रकार की भाषा सार्थक अर्थ को प्रगट करती है। तर्कवाक्य जो केवल कुछ नामों का समूह है वह कैसे तथ्य का निरूपण कर सकता है इसका समाधान पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन चित्र सिद्धांत में करते हैं। पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन मानते हैं कि भाषा व जगत में अन्तर होता है, तथापि अन्तर के होते हुए भी जगत के विषय में कथन कर सकते हैं जिस प्रकार किसी चित्र द्वारा चित्रित वस्तु का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार किसी सरल तर्कवाक्य द्वारा निरूपित तथ्य का ज्ञान हो जाता है इसलिए पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन कहते हैं कि कोाई तर्क वाक्य सार्थक होता इसलिए है क्योंकि वह तथ्य का चित्र होता है। सर्वप्रथम पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन जगत पर विचार करते हुए कहते हैं कि जगत वस्तुओं की समग्रता नहीं बल्कि तथ्यों की समग्रता है। वस्तुएं सरल हैं और सरल वस्तुओं का संयोजन ही तथ्य कहलाते हैं। अब तथ्य सरल है और प्रत्येक तथ्य अन्य तथ्यों से भिन्न व सरल है इन्ही तथ्यों की समग्रता ही जगत है। पुनः भाषा का विश्लेषण सरल प्रतिज्ञप्तियों में किया जा सकता है। प्रत्येक भाषा सरल प्रतिज्ञप्ति दूसरी सरल प्रतिज्ञप्तियों से भिन्न है सरल प्रतिज्ञप्ति सतता निश्चित प्रतिज्ञप्तियां हैं जिससे भाषा का स्वरूप बनता है। जिस प्रकार जगत का विभाजन सरल तथ्यों में होता है उसी प्रकार भाषा का विभाजन प्रतिज्ञप्तियों में होता है।

12.5 सरल तथ्य – सरल तर्कवाक्य

उपर्युक्त व्याख्या से पूर्ववर्ती बेटगेंस्टाइन इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि सरल प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ वह वस्तु स्थिति है जिसका वर्णन प्रतिज्ञप्तियों द्वारा किया जाता है अर्थात सरल प्रतिज्ञप्तियों का अर्थ अणु तथ्य है जब प्रतिज्ञप्तियों के अनुसार वास्तविक तथ्य का वर्णन होता है तब वह सत्य होती है और जब वर्णन नहीं होता है तब प्रतिज्ञप्ति असत्य होती है इसलिए सरल प्रतिज्ञप्तियां अणु तथ्यों की चित्र होती हैं। वस्तुतः पूर्ववर्ती बिटगेंस्टाइन इन सरल तर्कवाक्य व उसके द्वारा अभिव्यक्त सरल तथ्यों के आकार में समरूपता मानते हैं। इसी आकारिक समरूपता के कारण वह तथ्य का चित्र होता है तर्कवाक्य केवल नामों का समूह नहीं होता अपितु सम्बद्ध श्रृंखला के रूप में व्यवस्थित होने से स्वयं एक तथ्य होता है। इसी कारण वह सार्थक भी है।

विटगेन्स्टाइन अपनी प्रथम पुस्तक ''ट्रैक्टेटस' में प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता चित्र सिद्धांत द्वारा निर्धारित करते हैं उनके अनुसार भाषा जगत को व्यक्त करती अर्थात प्रतिज्ञापित तथ्यों का चित्र है इसलिए केवल तथ्यों के सन्दर्भ में ही सार्थक कथन किया जा सकता है। किन्तु यहां यह समस्या होती है कि जो तथ्य नहीं है उनके सन्दर्भ में कैसे कथन सम्भव है। इस मसस्या के सन्दर्भ में विटगेन्स्टाइन ''जो कहा जा सकता है और जिसे दिखाया जा सकता है'' में भेद करते हैं।

विटगेन्स्टाइन के अनुसार कुछ चीजें ऐसी हैं जिनका कथन नहीं हो सकता जैसे भाषा और प्रतिज्ञप्ति का तार्किक आधार क्या है? भाषा एवं जगत का सम्बन्ध क्या है? तत्व मीमांसा से संबंधित निरर्थक कथन कैसे सम्भव है? इसके बारे में सार्थक रूप से नहीं कहा जा सकता है, दूसरे शब्दों में –भाषा के द्वारा हम जगत को व्यक्त करते हैं किन्तु जगत को व्यक्त करने वाली भाषा क्या है अथवा वास्तविक रूप में इसके तार्किक आधार क्या हैं इसे भाषा के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। विटगेन्स्टाइन के अनुसार यदि यद्यपि हम कुछ कह नहीं सकते किन्तु भाषा के तार्किक आधार को प्रदर्शित या दिखलाया जा सकता है। वस्तुतः विटगेन्स्टाइन चित्र सिद्धांत के आधार पर यह कहते हैं कि प्रतिज्ञप्तियों का चित्रण करती है किन्तु इनके सम्बन्ध को कथनों के द्वारा व्यक्त करने के बजाए प्रदर्शित किया जा सकता है।

12.6 गलत भाषायी प्रयोग

जगत एवं भाषा के संबधों की मूल दार्शनिक समस्या का समाधान विटगेन्सटाइन चित्र सिंद्धांत के द्वारा करते हैं। जिसका उल्लेख ट्रैक्टेटस में मिलता है। प्रारंभिक चिंतन क्रम में विटगेन्सटाइन मानते हैं कि प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति तथ्यों को सूचित करती है। जिसका प्रत्येक अवयव निश्चित अर्थ को सूचित करता है। इसलिए प्रतिज्ञप्ति तभी सार्थक होती है ज बवह तथ्य को चित्रित करें। इस मत से स्वयं असहमत होने होते हुए फिलासफिकल इन्वेस्टीगेशन में विटगेन्सटाइन कहते हैं कि आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कथन तथ्यों को हमेशा सूचित करे। कथन हमेशा प्रत्येक सन्दर्भ में अर्थवान नहीं होता। इसलिए अर्थ के बजाय भाषा के वास्तविक प्रयोगों को देखना होगा।

विटगेन्सटाइन दार्शनिक समस्याओं को भ्रांतिपूर्ण अवधारणा पर आधारित मानते हैं उनके अनुसार हर शब्द का एक निश्चित अर्थ होता है। यह मानकर हम एक बार भाषा के किसी ढंग से चिपक जाते हैं और उससे अपने को मुक्त नहीं कर पाते। इसे अलंकारिक भाषा में विटगेन्सटाइन सामान्यीकरण की झलक चित्रों का बंदी होना कहते हैं। वे मानते हैं कि अभी शब्द अपने भाषायी आकार में समान होते हैं कुछ अर्थों में सभी वाक्यों में भी सादृश्यता होती है।

शब्दों एवं वाक्यों की आकारिक सादृश्यता को देखकर विशिष्टता की उपेक्षा करते है। और ऊपरी समानता को देखकर सामान्यीकरण कर देते हैं। यदि हम उनकी विशिष्टताओं को देखते तो स्पष्ट हो जाता कि प्रत्येक शब्द तथा वाक्य का प्रयोग एवं व्यवहार भिन्न है एवं प्रसंगानुसार भी भिन्न हो जाता है।

12.7 चित्र के बन्दी

ऐसा क्यों होता है? इस संदर्भ में विटगेन्सटाइन कहते हैं कि किसी विशेष प्रकार के कथनों को बार बार दुहराते रहने के कारण उस विषय के सम्बन्ध में हमारे मन में एक चित्र, प्रतिमा आदि उभर जाते हैं, और अब हम चित्र के ऐसे बन्दी हो जाते हैं कि हमारे विश्वास ज्ञान भी उसी चित्र के अनुरूप बनने लगते हैं। यह चित्र अब इतना प्रबल हो जाता है कि उससे भिन्न किसी चित्र को अब स्थान नहीं मिल सकता।

इसी प्रकार हम 'मन' के विषय में देखें। मन के विषय में हम किस प्रकार की भाषीय उक्तियां देते रहते हैं? कुछ इस प्रकार के – 'हमारे मन में कुछ ऐसी बात नहीं है,' 'मन में झांक कर देखो', 'मन में था

अभी याद नही 'आ रहा' आदि। ऐसी उक्तियों को बार बार दोहराते रहने से हमारे मन मे 'यह चित्र बन जाता है। कि हमारा मन भी किसी कमरे के समान कोई स्थान है जिसमें भाव, विचार, भावनाएं आदि भरे रहते हैं। अब यदि इस चित्र के फलस्वरूप कोई प्रश्न उठता है तो हम उलझन में फंस जाते हैं, उसे निराकरण का कोई मार्ग नहीं दिखाई देता, और यही हमारी समस्या हो जाती है।

12.8 सोचो नहीं देखो

स्पष्ट है कि जो समस्या उत्पन्न हुई है, वह कोई सार्थक समस्या नहीं, वह तो भाषा के गलत प्रयोगों को बारबार दोहराते रहने से जो चित्र बन जाता है उसके कारण उत्पन्न हो रही है, यहां समस्या का समाधान मात्र इतना है कि वह स्पष्ट कर देना है कि 'यहां किस प्रकार से भाषीय प्रयोग गलत हुआ है।' इसके लिए भाषा के वास्तविक प्रयोंगों को देखना होगा। भाषा के गलत प्रयोग को स्पष्ट करने के लिए देखना होगा कि वस्तुतः किन किन स्थितियों किस–सिक संदर्भ में हम साधारण भाषा का प्रयोग करते हैं। विटगेन्सटीन घोषित करते हैं कि सोचो नहीं देखो अर्थ के विषय में सोचना भ्रान्ति में डाल सकता है, अतः नारा है देखा। वह भी अर्थ को देखो, भाषीय व्यवहार को दखो, प्रयोगों को देखो। उसकी सार्थकता उसके विशेष संदर्भ से ही स्पष्ट हो सकती है। इसी कारण विटगेन्सटीन कहते हैं कि अर्थ के स्थान पर यह देखना आवश्यक है कि हम यह देखें कि विभिन्न संदर्भों में भाषीय कथनों का प्रयोग किस–किस प्रकार होता है। प्रयोग का यही तात्पर्य है।

अनेक प्रकार के भाषीय प्रयोग सम्भव है। हम जब अर्थ की बात करते हैं या उसकी खोज करते है। तो हम एक शब्द के लिए एक अर्थ की खोज करते हैं। किन्तु उत्तरकालीन विटगेन्सटीन को यह स्पष्ट दिखाई देता कि इस प्रकार के अर्थ की खोज भाषीय उक्तियों के वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा है। अनगिनत प्रकार का इनका अनगिनत ढंग निर्धारित भी नहीं किया जा सकता। एक परिस्थिति में एक कथन का प्रयोग एक ढंग से होता है, दूसरी परिस्थिति में दूसरे ढंग से। तब यह स्पष्ट हो जायेग कि अर्थ पर ध्यान देना भाषीय व्यवहारों की वास्तविकता की ओर से आँख मूंद लेना। इसी कारण वे बार–बार कहते हैं कि अर्थ मत देखो, भाषीय प्रयोगों को देखो।

इस प्रकार अर्थ तथा प्रयोग के अन्तर को स्पष्ट करने के प्रयत्न में विटगेन्सटीन भाषीय प्रयोगों की असंख्य सम्भावनाओं को स्पष्ट करते हैं। उन्हें यह सूझ आती है कि निश्चित अर्थ की खोज करने के कारण कुछ दार्शनिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। यदि हम यह समझ जायें कि किसी शब्द या कथन का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता क्योंकि उनके प्रयोगों कि असंख्य सम्भावनायें हैं तो अर्थ पर जोर देने के कारण उत्पन्न समस्या अपने आप समाप्त हो जाती है।

इससे विटगेन्सटीन के दार्शनिक समस्यओं के निराकरण की एक विधि प्राप्त हो जाती है। उन्हें लगता है कि भाषयी प्रयोगों को देखने से ही शायद समस्या का निदान हो जाय, उलझन समाप्त हो जाय। भाषीय प्रयोगों को देखने की विधि को वे भाषीय खेल कहते हैं। विटगेन्सटीन कहते हैं कि समस्या से मुक्त होने के लिए हमें उक्तियों को उनके तात्विक प्रयोगों से हटा कर उनके सामान्य दैनिक प्रयोगों में बिठा कर देखना होगा। साधारण भाषीय प्रयोग तो व्यक्ति करता ही रहता है, उसे उनका अनुस्मरण करा

देना है। ऐसे साधारण भाषीय प्रयोगों को स्पष्ट रूप में समक्ष प्रस्तुत कर देना। समस्या के दार्शनिक निदान का अर्थ है।

12.9 निष्कर्ष

प्रकार उत्तरवर्ती विटगेन्स्टाइन भाषायी विश्लेषण के माध्यम से दार्शनिक समस्यायों के समाधान की पद्धति प्रस्तुत करते हैं। भाषा के अलग–अलग प्रयोगों के द्वारा भाषा का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है। इस स्पष्टीकरण से भाषा में व्यक्त दार्शनिक समस्याओं का समाधान स्वतः हो जाता है। इसलिए अर्थ के बजाए प्रयोग को देखना चाहिए।

12.10 सरांश

पूर्ववर्ती विटगेंस्टाइन अपने प्रारंभिक चिंतन में भाषा की सार्थकता अर्थ से निर्धारित करते हैं, लेकिन भाषा के प्रयोगों में किसी भी शब्द का अर्थ सदैव एक नहीं होता है, सन्दर्भ के अनुसार अर्थ में परिवर्तन संभव है। इसलिए प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता अर्थ के बजाए विभिन्न प्रयोगों के द्वारा निर्धारित की जा सकती है। यह एक प्रकार से भाषा को दैनिक प्रयोगों में स्पष्ट करना है। भाषायी प्रयोगों की यह विधि भाषायी खेल कहलाती है।

12.11 प्रश्न बोध

1. चित्र सिद्धांत में मुख्य समस्या क्या है?
2. भाषायी प्रयोग को स्पष्ट की जिए।
3. 'अर्थ के बजाए प्रयोग को देखो', स्पष्ट कीजिए।

12.12 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : बसंत कुमार लाल
2. समकालीन पाश्चात्य दर्शन का उद्भव एवं विकास : लक्ष्मी सक्सेना
3. डा. सुरेन्द्र वर्मा –पाश्चात्य दर्शन की समकालीन प्रवृत्तियाँ, भोपाल 2000
4- The Encyclopedia of Philosophy (ed- Paul Edwards)New York 1967

खण्ड :4

लुडविग विटगेन्स्टाइन

इकाई–13 : भाषाई खेल

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य –

13.1 प्रस्तावना

13.2 अर्थ एवं प्रयोग

13.3 भाषाई खेल

13.4 निज भाषा की समस्या

13.5 आदर्श भाषा और साधारण भाषा

13.6 निष्कर्ष

13.7 सरांश

13.8 प्रश्न बोध

13.9 उपयोगी पुस्तकें

....

13.0 उद्देश्य –

उत्तरवर्ती विटगेंन्स्टाइन भाषा के स्पष्टीकरण के लिए विभिन्न प्रयोगों पर बल देते हैं। भाषा के लिए विभिन्न प्रयोगों पर बल देते हैं। भाषा के अलग–अलग प्रयोगों द्वारा दार्शनिक समस्याओं का समाधान करने की विधि भाषायी खेल है। इस इकाई में भाषायी खेल को स्पष्ट किया जाएगा साथ ही भाषायी खेल द्वारा 'निज भाषा की समस्या' का विष्लेषण किया जाएगा।

13.1 प्रस्तावना

पूर्ववर्ती विटगेंस्टाइन ने भाषा के अर्थ को सार्थकता का केन्द्र स्वीकार किया था, इस क्रम में विचारों को नया रूप देते हुए अपनी पुस्तक फिलासाफिकल इन्वेस्टीगेशन में दार्शनिक समस्याओं का समाधान भाषा के अलग अलग प्रयोगों के माध्यम से किया है। इन प्रयोगों के द्वारा प्रतिज्ञप्तियों की सार्थकता भाषायी खेल के द्वारा निर्धारित की जाती है। भाषायी खेल के आधार पर ही विटगेंस्टाइन ने संवेदना, वैकल्पिक भाषा अन्य मनों का ज्ञान इत्यादि दार्शनिक समस्याओं को सफल समाधान किया है।

13.2 अर्थ एवं प्रयोग

पूर्ववर्ती विटगेन्सटाइन के अनुसार दार्शनिक समस्या जो उत्पन्न होती है वह भाषा के के गलत प्रयोग के कारण हमारे सामने आती है। वह तो भाषा के गलत प्रयोगों को बारबार दोहराते रहने से जो चित्र बन जाता है उसके कारण उत्पन्न हो रही है, यहां समस्या का समाधान मात्र इतना है कि वह स्पष्ट कर देना है कि 'यहां किस प्रकार से भाषीय प्रयोग गलत हुआ है।' इसके लिए भाषा के वास्तविक प्रयोंगों को देखना होगा। भाषा के गलत प्रयोग को स्पष्ट करने के लिए देखना होगा कि वस्तुतः किन किन स्थितियों किस–सिक संदर्भ में हम साधारण भाषा का प्रयोग करते हैं। विटगेन्सटीन घोषित करते हैं कि सोचो नहीं देखो अर्थ के विषय में सोचना भ्रान्ति में डाल सकता है, अतः नारा है देखा। वह भी अर्थ को देखो, भाषीय व्यवहार को दखो, प्रयोगों को देखो। उसकी सार्थकता उसके विशेष संदर्भ से ही स्पष्ट हो सकती है। इसी कारण विटगेन्सटीन कहते हैं कि अर्थ के स्थान पर यह देखना आवश्यक है कि हम यह देखें कि विभिन्न संदर्भों में भाषीय कथनों का प्रयोग किस–किस प्रकार होता है। प्रयोग का यही तात्पर्य है।

अनेक प्रकार के भाषीय प्रयोग सम्भव है। हम जब अर्थ की बात करते हैं या उसकी खोज करते है। तो हम एक शब्द के लिए एक अर्थ की खोज करते हैं। किन्तु उत्तरकालीन विटगेन्सटीन को यह स्पष्ट दिखाई देता कि इस प्रकार के अर्थ की खोज भाषीय उक्तियों के वास्तविक व्यवहार की उपेक्षा है। अनगिनत प्रकार का इनका अनगिनत ढंग निर्धारित भी नहीं किया जा सकता। एक परिस्थिति में एक कथन का प्रयोग एक ढंग से होता है, दूसरी परिस्थिति में दूसरे ढंग से। तब यह स्पष्ट हो जायेग कि अर्थ पर ध्यान देना भाषीय व्यवहारों की वास्तविकता की ओर से आँख मूंद लेना। इसी कारण वे बार–बार कहते हैं कि अर्थ मत देखो, भाषीय प्रयोगों को देखो।

इस प्रकार अर्थ तथा प्रयोग के अन्तर को स्पष्ट करने के प्रयत्न में विटगेन्सटीन भाषीय प्रयोगों की असंख्य सम्भावनाओं को स्पष्ट करते हैं। उन्हें यह सूझ आती है कि निश्चित अर्थ की खोज करने के कारण कुछ दार्शनिक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। यदि हम यह समझ जायें कि किसी शब्द या कथन का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता क्योंकि उनके प्रयोगों कि असंख्य सम्भावनायें हैं तो अर्थ पर जोर देने के कारण उत्पन्न समस्या अपने आप समाप्त हो जाती है।

13.3 भाषाई खेल

इससे विटगेन्सटीन के दार्शनिक समस्यओं के निराकरण की एक विधि प्राप्त हो जाती है। उन्हें लगता है कि भाषयी प्रयोगों को देखने से ही शायद समस्या का निदान हो जाय, उलझन समाप्त हो जाय। भाषीय प्रयोगों को देखने की विधि को वे भाषीय खेल कहते हैं। विटगेन्सटीन कहते हैं कि समस्या से मुक्त होने के लिए हमें उक्तियों को उनके तात्विक प्रयोगों से हटा कर उनके सामान्य दैनिक प्रयोगों में बिठा कर देखना होगा। साधारण भाषीय प्रयोग तो व्यक्ति करता ही रहता है, उसे उनका अनुस्मरण करा देना है। ऐसे साधारण भाषीय प्रयोगों को स्पष्ट रूप में समक्ष प्रस्तुत कर देना। समस्या के दार्शनिक निदान का अर्थ है।

अतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार की समस्यायें या उलझने दर्शन के सामने उपस्थित होती हैं, उन्हे सुलझाने के लिए दर्शन को भाषीय खेल खेलना पड़ता है। पुनः पूछा जा सकता है कि यदि

खेल की कोई निश्चित अवधारणा है ही नही तो भाषीय खेल को खेल किस–आधार पर कहा जा सकता है? उनका कहना है कि हम कुछ खेलों का विवरण देते हैं और साथ–साथ यह भी कहते हैं कि 'ये और इसी प्रकार के अन्य'। उनका कहना है कि इससे अधिक हम और कुछ कह भी नहीं सकते क्योंकि 'खेल' की सीमा निश्चित रूप से नहीं निर्धारित हुई है, न हम निर्धारित कर सकते हैं।

खेल की कोई निश्चित अवधारणा नहीं बन सकती। अलग–अलग खेलों को खेला जा सकता है, दिखाया जा सकता है। अधिक से अधिक कहा जा सकता है कि खेलों का एक परिवार है। तथा उनमें जो सादृश्यता दिखाई देती है वह एक पारिवारिक सादृश्यता है, उस प्रकार की सामान्य सादृश्यता है जिस प्रकार की सादृश्यता एक परिवार के सदस्यों में हो सकती है। इसी कारण उनके इन भाषीय खेल विचार में एक प्रकार की तदर्थता का निर्देश मिलता है। समस्या भाषा के गलत–प्रयोग के कारण होती है, तथा उसके निदान के लिए उनकी गलती हो प्रकाशित कर देना है। यह सम्भव तभी हो सकता है कि हम न प्रयोगों को उनके सामान्य–साधारण, दैनिक प्रयोगों में बिठा कर देखें। यही तो भाषीय खेल है। दार्शनिक समस्या एक बोतल में फंसे मक्खी की भनभनाहट जैसी है। इसके निदान का अर्थ है बोतल से मक्खी को निकाल कर उड़ा देना। यह निदान इस अर्थ में नहीं है कि जब कोई ऐसी जानकारी मिल गयी जो पहले नहीं थी।

13.4 निज भाषा की समस्या

विटगेन्सटीन ने अनेकों भाषीय खेल खेलकर दिखाया है अनेक विचारक यह स्वीकारते रहे हैं कि हमारे लिए वैयक्तिक भाषा का होना आवश्यक है। हम इस प्रकार के मत को सहज रूप में स्वीकारते भी रहे हैं। शब्दों तथा अनुभवों के सम्बन्ध में जब भी हम सोचते रहे हैं तो हम यह भी सोचते रहे हैं कि हमें जब भी कोई अनुभव होता है या संवेदना होती है तो उस अनुभव या संवेदना को हम ही जानते हैं तथा हम ही व्यक्त कर सकते हैं। हम अपने ढंग से कहते हैं कि हमें यह अनुभव हुआ है। इस प्रकार का विचार इतना सहज तथा स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाह्य जगत की अवधारणा तथा अन्यमन की अवधारणा बनाने का भी यही वैयक्तिक आधार बन जाती है। वस्तुतः वैयक्तिक भाषा उस भाषा को कहा जाता है जो उस विशेष व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी के समझ में नहीं आ सकता। इसके विरुद्ध विटगेन्सटीन अपनी विधि का प्रयोग करते हैं जिसके द्वारा इस विचार के भ्रान्ति रूप को वे स्पष्ट कर देते हैं। विचार से उत्पन्न चित्र के बन्दी होने के कारण इस भाषा के निर्माण तथा व्यवहार दोनों का ढंग निर्धारित कर देते हैं। अपने से कुछ कहने का क्या अर्थ होता है। इसका अर्थ है कि 'इस भाषा में मैं अपने से कह रहा हूँ वह केवल मैं ही जानता हूँ।' स्पष्ट होता है कि इससे एक अर्थहीन ध्वनि मात्र निकलती है, कोई भाषा सूचित नहीं होती।

इसे अन्य ढंग से सोच कर देखें जब भी साधारण भाषा में हम किसी शब्द का प्रयोग सीखते हैं तो इसका अर्थ है कि अब उस शब्द को हम उसी ढंग से भविष्य में भी प्रयोग करेंगें। किन्तु वैयक्तिक भाषा के किसी शब्द को वैयक्तिक ढंग से परिभाषित करने के बाद भी भविष्य में उसके प्रयोग का प्रश्न रह ही जाता है। अर्थात् वैयक्तिक भाषा में हम ठीक वही प्रयोग कर रहे हैं यह प्रामाणिक नहीं हो सकता। हमें

यहां देखना है कि क्या हम जो पुनः पीड़ा शब्द के व्यवहार कर रहे हैं वह संगत है? अर्थात क्या उस शब्द से वही सूचित हो रहा है जो हमने पहली बार सूचित किया था।

पुनः प्रश्न है कि हम यह कैसे तय करेंगें कि हमारा अभी का प्रयोग सही प्रयोग है। हमें यह प्रयोग सही प्रतीत हो सकता है किन्तु सही प्रतीत होना तथा सही होना इसका भेद हम कैसें करेंगें। किन्तु वैयक्तिक भाषा की सीमा में सीमित रहकर यह कैसे तय किया जा सकता है कि स्मृति प्रमाणिक है या अप्रमाणिक जो स्मरण हुआ वह गलत भी तो हो सकता है। पूर्णतया वैयक्तिक भाषा का अर्थ है कि हमारे अतिरिक्त कोई अन्य उस भाषा को समझ नहीं सकता। उनका कहना है कि यहां हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा के ढंगों का पालन कर रहे हैं। किन्तु यह स्थापित नहीं होता कि हम ऐसा कर रहे हैं। अतः वैयक्तिक भाषा के ये ढंग भाषीय नियम या ढंग नहीं है, बल्कि भाषीय ढंग या नियम की प्रतीति मात्र है। स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार हम यह नहीं स्थापित कर पा रहे हैं कि कोई वैयक्तिक भाषा है जिसमें भाषीय ढंग का निर्वाह हो रहा है। भाषीय व्यवहार की मूल मांग भी पूरी नहीं हो रही।

13.5 आदर्श भाषा और साधारण भाषा

आदर्श भाषा में रसेल और मूर के नाम आते हैं। रसेल के अनुसार वाक्यों के व्याकरणात्मक आकार उनके तार्किक आकार नहीं हैं। जैसे– वैवरली का लेखक स्कॉट है। व्याकरणात्मक दृष्टिकोण से यह वाक्य स्पष्ट प्रतीत होता है किन्तु यह एक मिश्रित तर्कवाक्य है। इसका निम्न तर्क वाक्य में विश्लेषण होता है।

1. कम से कम एक व्यक्ति ने वैवरली लिखा। 2. अधिक से अधिक एक व्यक्ति ने वैवरली लिखा। 3. जिसने वैवरली लिखा यह वही स्कॉट है।

रसेल ने उपर्युक्त कमी से बचने के लिए कृत्रिम भाषा या आदर्श भाषा को स्वीकार किया। उसने कहा कि साधारण भाषा अस्पष्ट होने के कारण तार्किक आकार व्यक्त नहीं कर सकती है। विटगेन्सटाइन का सम्बन्ध ट्रेक्टेट्स पुस्तक में आदर्श या प्रतीकात्मक भाषा से था। विटगेन्सटाइन का उद्देश्य एक कृतिमपूर्ण भाषा की रचना करना था जो साधारण भाषा का स्थान ले सके। जो पूर्णतया सत्यतापरक हो जिसमें केवल सरल प्रतिज्ञप्तियां हो इसलिए उन्होने कहा –''सरल वाक्य जो अणुतथ्यों के चित्र हैं केवल आदर्श भाषा में ही प्राप्त हो सकते हैं, सामान्य भाषा में नहीं।'' सामान्य भाषा जो तथ्य का चित्र बनाने में असफल रहती है, उसे इस तार्किक पूर्ण भाषा के द्वारा स्थान दिया जा सकता है, यदि वह आदर्श भाषा से समानता रखती हो। विजडम व कोपी के अनुसार –''आदर्श भाषा ही तथ्यों के चित्र होते हैं।'' कोपी ने कहा है कि साधारण भाषा में वहीं वाक्य सार्थक है जो आदर्श भाषा के मापदण्डों के निकट हों।

लेकिन उपरोक्त विचारकों का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता है। यह सत्य है कि विटगेन्सटाइन ने ट्रेक्टेटस में साधारण भाषा की कमियों की ओर संकेत किया है लेकिन उनका यह विचार बिलकुल नहीं है कि साधारण भाषा को आदर्श भाषा में विस्थापित कर देना है। लेकिन आलोचकों के मन में इस तरह का प्रश्न इसलिए उत्पन्न हुआ था, क्योंकि विटगेन्सटाइन ने साधारण भाषा की आलोचना करते हुए कहा था कि साधारण भाषा में सरल तर्कवाक्यों का स्पष्ट रूप से प्रयोग नहीं होता, क्योंकि यह भाषा तार्किक आकार को छिपाती है।

लेकिन इन आलोचनाओं को प्रस्तुत करने का कारण साधारण भाषा में निहित समस्यओं को प्रदर्शित करना था। विटगेन्सटाइन के अनुसार साधारण भाषा में एक ही चिन्ह कई प्रतीकों के लिए प्रयुक्त होता है जैसे – ''है'' का प्रयोग परिभाषा के रूप में (1) जैसे –मानव बौद्धिक प्राणी है।
(2) है का प्रयोग समीकरण के रूप में – 2 और 2 मिलकर 4 होता है। (3) 'ईश्वर की सत्ता है' – अस्तित्व के रूप में। (4) सूचना के अर्थ में ''है'' का अर्थ – राम बुद्धिमान है।

एक शब्द के कई अर्थ होने के कारण भ्रान्तियां उत्पन्न हो जाती हैं। आदर्श भाषा इस कठिनाई से मुक्त है। क्योंकि इसमें एक प्रतीक का अर्थ एक ही प्रयोग के लिए किया जाता है।

जिन शब्दों का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से समान रूप में किया जाता है वे तार्किक दृष्टिकोण से परस्पर भिन्न होते हैं। जैसे –

1. फ्रांस का सम्राट गंजा है। 2. वैवरली का लेखक स्कॉट है। 3. अलेक्जेंडर राजा है।

उक्त तीनों वाक्यों में उद्देश्य व्याकरण की दृष्टि से समान है लेकिन तार्किक रूप से भिन्न है। अलेक्जेंडर एक नाम है जो किसी व्यक्ति को सूचित करता है जबकि फ्रांस का सम्राट और वैवरली का लेखक नाम नहीं अपितु वर्णनात्मक समूह है। उसी तरह मैं सोचता हूँ और मैं दौड़ रहा हूँ। दोनों वाक्यों में समानता होते हुए भी प्रथम में ''मैं'' का अर्थ ''आत्मा'' तथा दूसरे ''मैं'' का अर्थ शरीर है।

विटगेन्सटाइन के अनुसार आदर्श भाषा के प्रयोग का उद्देश्य उपरोक्त कमियों के बचना था। इसलिए उनका उद्देश्य साधारण भाषा को स्पष्ट करना था उसका स्थान ग्रहण करना नहीं। इसलिए विजडम और कोपी की आलोचना अनुचित प्रतीत होती है। एन्सकाम्ड, ग्रीकिन, पियर्स व डब्ल्यू सेल्स का मत है कि विटगेन्सटाइन का अर्थ साधारण भाषा को समाप्त करना नहीं, बल्कि उसका उद्देश्य Philosophical investigationके अनुसार Tractatus में भी साधारण भाषा के स्वरूप को समझना है। अंशकाम्ड के शब्दों में ''विटगेन्सटाइन के उद्देश्य सभी प्रकार के भाषाओं के अर्थ को निश्चित करना था। लेकिन प्रश्न है कि यदि साधारण भाषा उपयुक्त है तो वह आदर्श भाषा की बात क्यों करता है? विटगेन्सटाइन के अनुसार साधारण भाषा पूरी तरह सार्थक है केवल इसका तार्किक स्वरूप स्पष्ट नहीं है। आदर्श भाषा का उद्देश्य साधारण भाषा के तार्किक स्वरूप को स्पष्ट करना है। आदर्श भाषा में केवल नाम सरल तर्कवाक्य और सरल तर्कवाक्यों के फलन होते हैं।

लेकिन तार्किक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए साधारण भाषा को सरल तर्कवाक्यों में विश्लेषित किया जा सकता है। विटगेन्सटाइन स्वयं कहता है कि हमारी बोल चाल के भाषा के सभी वाक्य वास्तव में जैसे हैं तार्किक रूप से पूर्णतया ठीक है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि साधारण भाषा निर्दोष है। साधारण भाषा के तर्कवाक्य भी महत्वपूर्ण हो सकते हैं यदि उसका विश्लेषण करके सरल तर्कवाक्य प्राप्त कर लिये जायें। क्योंकि सरल तर्कवाक्य ही तथ्यों के चित्र होते हैं। इसीलिए विटगेन्सटाइन कहता है कि –''साधारण भाषा पूर्ण रूप से उचित है।'' इसीलिए साधारण भाषा को आदर्श भाषा से हटाने की आवश्यकता नहीं है लेकिन साधारण भाषा द्विअर्थक व अस्पस्ट होने के कारण तार्किक आकार को आच्छादित करती है उसे समझना है। विटगेन्सटाइन ने कहा है कि साधारण भाषा उतनी जटिल है कि उसका ऊपर से तार्किक आकार स्पष्ट नहीं हो पाता है।

साधारण भाषा विचारों को छिपाती है, यह एक ऐसे ढीले–ढाले वस्त्र के समान है। जो शरीर के आकार का ज्ञान नहीं देता है। क्योंकि यह भिन्न उद्देश्य के लिए बनाया गया है। इसलिए साधारण भाषा का उद्देश्य विचारों को व्यक्त करना है। उसके तार्किक आकार को स्पष्ट करना नहीं। स्पष्ट रूप से व्यक्त करने वाली भाषा आदर्श भाषा है जिसमें त्रुटि की कोई सम्भावना नहीं है। लेकिन इसका अर्थ साधारण भाषा के स्थान को ग्रहण करना नहीं बल्कि उसके आकार को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना है। आदर्श भाषा कोई नई भाषा नहीं है। बल्कि साधारण भाषा को स्पष्ट करने के लिए एक अर्थक्रियावादी योजना है।

Tractatus में विटगेन्सटाइन ने स्वीकार किया था कि साधारण भाषा का विश्लेषण करके उसे हम सत्यता–फलनात्मक बना सकते हैं। लेकिन Philosophical Investigationमें वह पूर्व कथन का मजाक करते हुए कहते हैं कि साधारण भाषा अस्पष्ट एवं संशययुक्त है। डब्ल्यू सेलर्स के अनुसार ''कोपी का यह मत गलत है कि विटगेन्स्टाइन का सम्बन्ध केवल आदर्श भाषा से था Tractatus और Philosophy Investigation में उसका उद्देश्य साधारण भाषा को ही स्पष्ट करना था। दोनों में ही वह मानता है कि दार्शनिक समस्यायें तब उत्पन्न होती हैं। जब हम भाषा के तार्किक रूप को समझ नहीं पाते हैं। इसलिए स्ट्रासन ने कहा है कि ''यदि हम जानना चाहते हैं कि भाषा कैसे कार्य करती है तो उसके कार्य को देखना आवश्यक है। और यदि साधारण भाषा दोष युक्त है तो उसका विश्लेषण त्रुटिपूर्ण है।''

दर्शन विज्ञान नहीं है बल्कि भाषा विश्लेषण है। अतः साधारण भाषा के तार्किक स्वरूप को जानने के लिए भाषा के प्रयोग को जानना जरूरी है। उलझने भाषा के वास्तविक प्रयोग ने समझने से होती है। अतः विटगेन्सटाइन ने कहा है कि ''अर्थ मत पूछो प्रयोग पूछो।'' प्रयोग को न समझने के कारण ही भ्रान्तियां उत्पन्न होती हैं। इसलिए विटगेन्सटाइन ने कहा है कि दार्शनिक समस्यायें तब उत्पन्न होती हैं। जब भाषा किसी इंजन की तरह विश्राम करती हैं।

दार्शनिक समस्यायें तब उत्पन्न होती हैं जब भाषा छुट्टी पर चली जाती है। विटगेन्सटाइन के अनुसार आदर्श भाषा का प्रयोग साधारण भाषा की कमियों के दूर कर स्पष्ट रूप से व्यक्त करना था। उसका स्थान ग्रहण करना नहीं लेकिन विवाद का कारण दोनों प्रक्रियाओं में अपनायी गयी प्रणालियों में है। Tractatusकी विधि विश्लेषण की विधि है जबकि Investigation में शब्दों के प्रयोग को समझना है। दो भिन्न मापदण्ड मानलेने के कारण वह पहले साधारण भाषा का खण्डन करता है और बाद में उसे स्वीकार कर लेता है।Tractatus और Philosophical Investigationदोनों में निहित साधारण भाषा ही, आदर्श भाषा नहीं। लेकिन दानों में विश्लेषण की विधि पृथक–पृथक है। इसलिए यह कहना ज्यादा अच्छा है कि विटगेन्सटाइन का उद्देश्य सभी भाषाओं की शर्तों को बताना था।

13.6 निष्कर्ष

इस प्रकार भाषायी खेल के आधार पर विटगेन्सटाइन सिद्ध करने में सफल होते हैं कि वैयक्तिक भाषा स्वयं में कोई भाषा नहीं है यही वैयक्ति भाषा को समस्या का समाधान है। स्पष्ट है कि दार्शनिक समस्या अर्थ को देखने से उत्पन्न होती है और जब हम विभिन्न भाषायी प्रयोगों (भाषायी खेल) को देखते है। तो यह समस्या स्वयं समाप्त हो जाती है।

13.7 सरांश

भाषा के प्रयोगों में किसी भी शब्द का एक ही अर्थ नहीं होता। इसलिए अर्थ के द्वारा भाषा की सार्थकता का निर्धारण नहीं हो सकता है क्योंकि उनके प्रयोगों की असंख्य संभावनाएं हैं। इससे विटगेंन्स्टाइन को दार्शनिक समस्याओं के समाधान की विधि प्राप्त हो जाती है। भाषायी प्रयोगों को देखने की विधि को ही भाषायी खेल कहते हैं। समस्या से मुक्त होने के लिए प्रतिज्ञप्तियों को उनके तात्विक प्रयोगों से हटाकर उनके सामान्य दैनिक प्रयोंगों में देखना होता है।

13.8 प्रश्न बोध

1. विटगेंस्टाइन अर्थ के बजाए प्रयोग पर क्यों बल देते हैं?
2. भाषायी खेल क्या है?
3. निज भाषा की समस्या क्या है?
4. निज भाषा की समस्या का समाधान भाषायी खेल द्वारा कैसे किया जाता है?

13.9 उपयोगी पुस्तकें

1. समकालीन पाश्चात्य दर्शन : बसंत कुमार लाल
2. समकालीन पाश्चात्य दर्शन का उद्‌भव और विकास : लक्ष्मी सक्सेना
3. डा. सुरेन्द्र वर्मा –पाश्चात्य दर्शन की समकालीन प्रवृत्तियाँ, भोपाल 2000
4. The Encyclopedia of Philosophy (ed- Paul Edwards)New York 1967

.....00....

ROUGH WORK

ROUGH WORK